आत्म-मार्ग-दर्शिका

अर्थात्

" दुःखमात्र टालवानो रामबाण उपाय "

(श्री जेठालालजी चुन्नीलालजी सादरा द्वारा

संगृहीत का अनुवाद)

अनुवादक एवम् प्रकाशक

फतहचन्द श्रीलालजी महात्मा

देलवाड़ा निवासी (राजस्थान)

व्यवस्थापक—श्री जैन धर्मशाला,

स्टेशन चितौड़गढ़ राजस्थान

वि० सं० २०१३ भाद्रपद कृष्णा ११ शनी परिउषण

प्रथमावृत्ति 1000 } मूल्य बारह आना { दि० १ ९ ५६

समर्पण !

स्वर्गीया दादीजी श्री इगामबाईजी, जिन्होंने
बाल्यकाल में ही धर्म के संस्कार बोए थे
उनकी आत्मा की शान्ति चाहता
हुवा यह सर्वोपयोगी पुस्तक
समर्पित करता हूं।

हम हैं आप के ऋणी—

पौत्र —
फतहचन्द महात्मा

पौत्र वधू —
गौरादेवी महात्मा

अपनी ओर से

सुज्ञ पाठकों! यह पुस्तक कितनी उपयोगी है यह तो पढ़ने व मनन से ही प्रतीत होगा। मूल पुस्तक गुजराती में है जिसका नाम है "दुःख मात्र टालवानो रामबाण उपाय।" ता० ८-६-१९४० को २१ वर्ष की उम्र में मैं मानसा (साबरकाठा एजेन्सी ए. पी. रेलवे) गया था जहाँ श्री वकील छोटालालजी पुरुषोत्तमजी से मिला था। ठिकाने के कामदार तथा वकील होते हुए भी गृहस्थाश्रम को निभाते हुए उन्हें प्रायः धर्म ध्यान में ही लगा पाया। विचार बड़े धार्मिक, व वैराग्य के खास प्रेमी थे। उक्त पुस्तक का उन्होंने संग्रह किया है जिसमें श्री मयाचन्दजी मानीलालजी अहमदाबादी उनके सहयोगी रहे हैं। श्री वकील साहब ने बड़े प्रेम से यह पुस्तक मुझे भेंट की। वह प्रसंग आया और गया। कई वर्ष व्यतीत हो गए, उसकी याद भी नहीं रही। सद्भाग्य से उत्तम पुस्तकों को पढ़ने की रुचि पैदा हुई और यह पुस्तक भी हाथ में आई। इसके १० पृष्ठ पढ़ते ही आन्तरिक प्रेरणा हुई कि हिन्दी पढ़ने वालों को भी इसका लाभ मिले अतः गुजराती से हिन्दी में अनुवाद किया जाय, तदनुसार

श्री वकीलजी से प्रकाशन व अनुवाद की अनुमति मा
फलत ता २७ ४ ५६ को उन्होंने उदारता पूर्वक अनुमति दं

इस पुस्तक के विषय में अधिक लिखना सूर्य
दीपक बताना है। इसका विषय एकदम आध्यात्मिक है,
कि मेरी पहुँच के बाहर है मैंने तो केवल शाब्दिक अनुव
मात्र किया है।

सर्वोपयोगी बनाने के लिए कहीं २ मूल शब्दों
छोड़कर पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है। आज
धर्मावलम्बियों में आपसी द्वेष भाव है। इतना ही नहीं एव
धर्म के माननेवालों म भी फिरकेबाजी, सम्प्रदायवाद व गः
भेद है। आज की हवा सम्प्रदायों को प्रोत्साहन देनेवा
है जब कि यह पुस्तक मानव मात्र जीवमात्र के उपयोगी

धर्म के नाम पर एक दूसरे से घृणा होने के कार
भूत बाहर की वेषभूषा, टीके टपले, तिलक छापे, क
कमण्डल, पात्र एव रूढियुक्त शब्द परम्परा है। इन कार
से एक दूसरे से घृणा, वैमनस्य व द्वेष स्वाभाविक
होगया है। एक दूसरे के विचारों का जानना तो दूर स
बोलना तक पसन्द नहीं है। पारस्परिक उपेक्षा व द्वेष मु
से भारत का जो हानि हुई है, वह हमारे सामने है, धम

नाम पर लाखों का जीवन नष्ट किया गया है। कत्लेआम व शोणित की नदियां भी इसी कारण से बही हैं। इतिहास साक्षी है।

आज आवश्यकता इस प्रकार की पुस्तकों की है कि जो मानवमात्र में प्रेम बढ़ावें। कोई भी मनुष्य किसी भी धर्म को मानने वाला हो, पुस्तक देखते ही सन्तुष्ट होकर माने कि यह मेरे ही धर्म की पुस्तक है। क्रियाओं और कट्टर पाखंड का पर्दा बीच में न आना चाहिए। इसी भावना से इस पुस्तक में भावार्थ (अनुवाद करने) करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि मूल आत्मा को कायम रखने का पूरा प्रयत्न किया है तथापि भूलों के लिए पाठकों से क्षमा चाहता हूँ।

आज आडम्बर इतना बढ़ गया है कि सबके मार्ग प्रायः दुर्लभ हो रहे हैं। आज की ज्ञान कई विचार लादे दिए गए हैं। "हकीमों का तुलसी का दाना, जिधर मिलता है उधर माना" यह कहावत ठीक है। अब केवल आधार ही उत्तम पुस्तकों का रहगया है जिसका भी लाभ न कर परित्याग किया गया है।

हमने दूसरों के लिए बहुत कुछ सोचा है बहुत

कुछ किया है परन्तु अपने लिए कुछ भी नहीं किया। रात दिन चौबीसों घन्टे शरीर के पोषण के लिए उद्यम करते हैं लेकिन अपने लिए, आत्मा के लिए कुछ भी सोच नहीं पाते हैं यही सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। अपने को जाने बिना सब व्यर्थ है। आत्मा स्वयं कर्ता है स्वयं भोक्ता है, सुख दु:ख भी अपने ही कामों का परिणाम है। काल का प्रकोप किसी के मिटाए मिट नहीं सकता है जन्मे हैं तो मरना है ही और कब मरना है यह भी निश्चित नहीं है। बिल में से चूहा निकला कि बिल्ली ने दबाया, मेंढक कब्वे के नजर पड़ा नहीं कि चोंच में पहुंचा नहीं, इहलीला समाप्त। कितना क्षण भंगुर यह संसार। धरती धमकाते हुए मूंछोंपर बल लगाते हुए, ऊंची हवेली व मोटरोंवाले भी कहीं चलेगए जिसका नाम निशान भी नहीं रहा। यही धारा इस स्वप्नमय ससार का है और रहेगा। काल मंडराता है कब किस का नंबर आता है, जिस प्रकार ग्राम शूकरी बारह बच्चे पैदाकर प्रसन्न होती है कि मेरे बारह हैं मगर चांडाल आकर एक एक, बच्चे की टांग पकड़ कर लेजाता है, बच्चा व मां दोनों रोते चिल्लाते रह जाते हैं वह ले ही जाता है, उनके वश की बात नहीं उसी प्रकार हमारे भरे पूरे परिवार के बीच में से सब के रोने चिल्लाने की परवाह न कर कालदेव किसी न किसी को ले ही जाता है हमारा जोर चलता ही नहीं।

अतः इस जन्म-मरण के चक्र में से निकलने के लिए अपने आपको पहचानना अत्यन्त आवश्यक है। यह पुस्तक इस मार्ग का द्योतक है।

उन समस्त आत्माओं से जिन्होंने अपना व दूसरों का कल्याण चाहा है, मोक्षगामी हुए हैं व उपदेश द्वारा जगत का हित चाहा है, चाहे वे किसी भी नाम व प्रकार आदि से हों उनको वन्दना कर समस्त जीवों के सुख की प्रार्थना करता हुआ अपने कल्याण की कामना करता हूँ। आप अधिक से अधिक लाभ उठायें, इसी में मेरा प्रयत्न (अनुवाद) सफल समझता हूँ। जिनका आर्थिक सहयोग रहा है उनका आभार मानता हूँ, विशेष कर [illegible] व [illegible] का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने समय पर पुस्तक मुद्रित की है। प्रूफ संशोधन का काम भी निर्मल [illegible] किया है। ॐ शान्ति शान्ति।

सुखी रहें सब जीव जगत के कोई कभी न घबरावे,
बैर पाप अभिमान छोड़ जग नित्य नये मंगल गावे।

[illegible] (गुज०) प्रकाशचन्द्र [illegible]

इस पुस्तक में प्रयुक्त
कतिपय शब्दों का स्पष्टीकरण

स्व और पर विश्व में चेतन और जड़ ये दो तत्त्व विद्यमान थे, हैं और रहेंगे। इनके तीन विभाग हैं (अ) शुद्ध चेतन अर्थात् परमात्म स्वरूप को प्राप्त हुए सिद्ध आत्मा, (ब) जड़ सहित चेतन अर्थात् शरीरधारी आत्मा (स) केवल जड़ अर्थात् जीव रहित वस्तुए। स्व आत्मा, पर जड़।

कर्म—आत्मा के साथ दूध पानी की तरह पारस्परिक व्याप्त बने हुए जड़ अणुओं का विविधतामय समूह। कर्म के मुख्य आठ भेद हैं। कर्मों के कारण ही शाश्वत आनन्द स्वभाव वाला अशरीरी आत्मा जन्म मरणादि भोगता है और एक के पश्चात् दूसरा आश्रय लिया करता है।

पर के या पौद्गलिक सुख—जड़ युक्त चेतन द्वारा जड़ के संयोग से भोगे जाते हुए सुख कि जिनका भोग आत्मा के व जड़ के सम्पर्क को बिगाड़ने वाला या बढ़ाने वाला होता है

पररमणता और आत्म रमणता—जड़के संसर्ग से होनेवाले सुखों में रमणता (लगे रहना) पर रमणता

और आत्मा के स्वाभाविक गुणों (सम्यग दर्शन आदि) में रमणता आत्म रमणता है।

सर्व विरतिधर और देश विरतिधर– जो पाप क्रिया मात्र से रहित जीवन जीने के लिए वीतराग भगवान की आज्ञानुसार पांच महाव्रतों को स्वीकार कर निर्ग्रंथ बने हुए हों वे सर्व विरतिधर जो कुछ अंशतः पाप क्रिया के त्याग के लिए पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को धारण करने वाले मोक्षमार्ग के श्रद्धालु गृहस्थ हों वे देश विरतिधर।

अविरत सम्यग् दृष्टि– जो पाप क्रियाओं का त्याग करने में असमर्थ होते हुए भी पौद्गलिक भोगों को हेय (छोड़ने योग्य) और श्री वीतराग भाषित मोक्ष मार्ग को उपादेय (ग्रहण करने योग्य) मान कर मोक्ष की आकांक्षा में रत रहने वाले हों।

अर्थ और काम– अर्थ अर्थात् स्वर्ण आदि द्रव्य और काम अर्थात विषय सुख। स्पर्शेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय इन पांच इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द के भोगोपभोग से उत्पन्न होने वाला सुख, काम सुख।

मिथ्यात्व— एक प्रकार का आत्मा के साथ लगा हुआ जड़ तमूह जिस के कारण से आत्मा, जीव अजीव के यथार्थ स्वरूप को मानने वाला नहीं बन सकता है।

कषाय— क्रोध, मान, माया और लोभ।

आराधना— मोक्ष प्राप्त करने के उपायों का यथार्थ सेवन।

संवर और निर्जरा— जड़ कर्मों को आत्मा के साथ लगने से रोकना यह संवर और पूर्व के लगे हुए कर्मों को दूर करना यह निर्जरा। इच्छापूर्वक कर्मों को दूर करना यह कामनिर्जरा और जो कर्म उदय में आकर कष्ट भुगता कर दूर हो जावे यह अकाम निर्जरा।

द्रव्यदया और भावदया—शरीर आदि संबंधी दुःख की दया वह द्रव्य दया और आत्मा के कर्म संयोगरूप दुःख के मूलभूत कारणों संबंधी दया, वह भाव दया।

अप्रमत्तता— मद्य, विषय, कषाय, आदि प्रमाद से रहित होकर मोक्ष के कारणभूत क्रियाओं में व्यस्तता।

पात्र— भक्ति के योग्य गुणवान आत्मा।

पापाचरण— आत्मा के साथ बंधे हुए अशुभ कर्मों के संयोग को बढ़ाने वाली मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया।

* ॐ परमात्मने नमः *

आत्म-मार्ग-दर्शिका

या

दुःख दूर करने का रामबाण उपाय

(१) प्रतिदिन के विचारणीय विषय

(साधक के लिये)

परसमयता (मिथ्यात्व) की वृत्तियों को सुधारने के विचार।

१ धनः- सन्तोषधन और आत्मधन की चिन्ता न करते हुए मैं तुच्छधन या सांसारिक सुख की प्राप्ति के

लिये नीति अनीति, पुण्य पाप, न्याय अन्याय की परवाह नहीं करता हूँ, एवम् यह भी नहीं विचारता हू कि सांसारिक सुख, भोग, वैभव साथ नहीं आवेंगे। वरन् उस सुख वैभव को प्राप्त करते हुए जो आचरित अनीति या पाप रूप आत्माकी बर्बादी है वह अवश्य साथ आयगी।

२ यौवनः- उत्तम मनुष्य भव जो कि मोक्ष साधना का एकमात्र साधन है, उस साधन स्वरूप "मनुष्य भवकी" युवावस्था का उपयोग मोक्ष प्राप्ति के लिये न करता हुआ, उन भोगों को जिन्हें ८४ लाख योनियों में भटकते हुए हर समय मैने भोगा है, फिर भोगने के लिये मेरी आत्मा, ज्ञान शून्य, पागल और दीवाना बनकर जवानी को दीवानी साबित कर रहा है। मानवभव को खो रहा हूँ।

३ बलः- व्यायाम के द्वारा शारीरिक बल प्राप्त करने का मैं प्रयत्न कर रहा हूँ, किन्तु आत्म बल प्राप्त करने के लिये मैं न तो व्रतधारी बनता हूँ और न इन्द्रियों को भोग विलास से पीछे ही खींचता हू। इसके विपरीत मै उन्हीं में रमा हुआ मस्त रहता हू। मन को वश में न रखकर उसे बेलगाम के घोड़े की तरह दौड़ने देता हू, तथा बुद्धि को आत्मनिष्ठ बनाने का प्रयत्न भी नहीं करता हू।

४ बुद्धिः- कर्तव्य, अकर्तव्य का विचार रहित

साधन तथा आत्मा को पहिचानने में मैं अपनी बुद्धि का उपयोग नहीं करता हूं, किन्तु दूसरों का सुख छीन लेने में और दूसरों को युक्तिपूर्वक व्यवस्थित रीति से दुःख देने में ही अपनी बुद्धि का दुरुपयोग कर आत्महत्या कर रहा हूं।

५ चतुराईः- संसार या इन्द्रियों के भोग रूप भूल भुलैया या इन्द्रजाल से निकलने में चतुराई का उपयोग न करते हुए दम्भी या कपटी बनकर उन्मत्तता पूर्वक सांसारिक इन्द्रजाल में फंसने और फंसाने में ही अपनी चतुराई का दुरुपयोग कर आत्मनाश कर रहा हूं।

६ रूप-रंग-सौन्दर्यः- संयम धारणकर आत्मा की शोभा बढ़ाने में मैं अपने रूप रंग का उपयोग न करता हुआ भोग भोगने में पागल बन आत्मा की शोभा घटाने में अपने सौन्दर्य का दुरुपयोग कर रहा हूँ।

७ कुटुम्ब-परिवारः- माता पिता, भाई बहन, स्त्री पुत्र, शरीर धन, वैभव, भवन और मित्र इन सबका उपयोग आत्म कल्याण के लिये न करते हुए मोह, अहङ्कार और ममता बढ़ाने के लिये कर रहा हूं।

८ मनः- मोक्षदायक धर्म के आचरण में या वीत

लिये नीति अनीति, पुण्य पाप, न्याय-अन्याय की परवाह नहीं करता हूँ, एवम् यह भी नहीं विचारता हूँ कि सांसारिक सुख, भोग, वैभव साथ नहीं आवेंगे। वरन् उस सुख वैभव को प्राप्त करते हुए जो आचरित अनीति या पाप रूप आत्माकी बर्बादी है वह अवश्य साथ आयगी।

२ यौवनः- उत्तम मनुष्य भव जो कि मोक्ष साधना का एकमात्र साधन है, उस साधन स्वरूप "मनुष्य भवकी" युवावस्था का उपयोग मोक्ष प्राप्ति के लिये न करता हुआ, उन भोगों को जिन्हें ८४ लाख योनियों में भटकते हुए हर समय मैंने भोगा है, फिर भोगने के लिये मेरी आत्मा, ज्ञान शून्य, पागल और दीवाना बनकर जवानी को दीवानी साबित कर रहा है। मानवभव को खो रहा है।

३ बलः- व्यायम के द्वारा शारीरिक बल प्राप्त करने का मैं प्रयत्न कर रहा हूँ, किन्तु आत्म-बल प्राप्त करने के लिये मैं न तो व्रतधारी बनता हूँ और न इन्द्रियों को भोग विलास से पीछे ही खींचता हूँ। इसके विपरीत मैं उन्हीं में रमा हुआ मस्त रहता हूँ। मन को वश में न रखकर उसे बेलगाम के घोड़े की तरह दौड़ने देता हूं, तथा बुद्धि को आत्मनिष्ठ बनाने का प्रयत्न भी नहीं करता हूं।

४ बुद्धिः- कर्तव्य, अकर्तव्य का विचार परहित

साधन तथा आत्मा को पहिचानने में म अपनी बुद्धि का उपयोग नहीं करता हू, किन्तु दूसरों का सुख छान लेने में और दूसरों को युक्तिपूर्वक व्यवस्थित रीति स दुःख देने में ही अपनी बुद्धि का दुरुपयोग कर आत्महत्या कर रहा हू।

५ चतुराई:- संसार या इन्द्रियों के भोग रूप भूल भुलैया या इन्द्रजाल से निकलने में चतुराई का उपयोग न करते हुए दम्भी या कपटी बनकर उन्मत्तता पूर्वक सांसारिक इन्द्रजाल में फसने और फसाने में ही अपनी चतुराई का दुरुपयोग कर आत्मनाश कर रहा हू।

६ रूप-रंग-सौन्दर्य:- संयम धारणकर आत्मा की शोभा बढाने में मैं अपने रूप रंग का उपयोग न करता हुआ भोग भोगने में पागल बन आत्मा की शोभा घटाने म अपने सौन्दर्य का दुरुपयोग कर रहा हूँ।

७ कुटुम्ब-परिवार:- माता पिता, भाई-बहन, स्त्री पुत्र, शरीर धन, वैभव, मकान और मित्र इन सबका उपयोग आत्म कल्याण के लिये न करते हुए मोह, अहङ्कार और ममता बढाने के लिये कर रहा हूं।

८ मन:- मोक्षदायक धर्म के आचरण में या वीत

रहा परमात्मा में मन को लेजाने के बदले में उसे भोग, ऐश्वर्य प्राप्त करने, उन्हें सम्भालने और उनका उपभोग करने में ही लगा रहा हूँ।

९ ममतामुक्त और समतायुक्त:- आत्म कल्याण के लिये अहंता ममता को त्याग कर में समता धारण नहीं कर सका हूँ।

१० मान, द्वेष और निन्दा:- आत्मकल्याण के लिये द्वेष का त्याग नहीं कर सका हूँ। मैंने अन्य का उत्कर्ष देखकर द्वेष करना भी नहीं छोड़ा है, दूसरों के गुणों को छिपाना और उनके निरर्थक दोषों को प्रकट करने का स्वभाव भी बन्द नहीं किया है।

११ कामना-मुक्त और निस्पृहतायुक्त:- आत्मकल्याण के लिये कामनाओं या लालसाओं का त्याग नहीं कर सका हूँ तथा निस्पृहता को अंगीकार भी नहीं कर पाया हूँ।

१२ अभिमानमुक्त और दयायुक्त:- जब कि आत्म कल्याण के लिये पाप मूल अभिमान को छोड़ नहीं सकता हूँ एवम् धर्म मूल दया को धारण नहीं कर सकता हूँ तो मैं भाव दया या आत्मदया को कैसे धारण कर सकता हूँ? जब तक भाव दया धारण नहीं कर सकूंगा तब तक आत्मकल्याण कैसे कर सकता हूँ।

(२) ध्येय अथवा लक्ष्य

मनुष्य जीवन का ध्येय मोक्ष है। ध्येय के स्मरण बिना, अभ्यास बिना वस्तु (लक्ष्य साध्य मोक्ष) प्राप्त नहीं हो सकती। ध्येय का चिन्तन होतो आराधना (भक्ति) का झूठा अभिमान दूर हो और विचार उत्पन्न हो कि अभी तो हम बहुत ही भयंकर (दूर) हैं। ध्येय पूरी तरह से लक्ष्य में हो तो प्राय विपरीत रास्ते की ओर जाया ही नहीं जा सकता, अर्थात् अर्थ और काम की प्रवृत्ति में आत्मा भान रहित होकर अनीति या पापाचरण का सेवन कर ही नहीं सकता।

आज तो प्राय ध्येय ही भुलाया हुआ है। व्यवहार में ध्येय नहीं भूलते हैं, वहां ता प्रत्यक्ष नुकसान नजर आता है जब कि यहां (मोक्ष की साधना में) कहेंगे कि "अरे चलता है।" कारण कि सच्चा नुकसान अभी समझ में आया ही नहीं। व्यवहार की साधना में होशियारी और मोक्ष की साधना में मूर्खता का उपयोग होता हुआ नजर आता है। व्यवहार में लाभ की बात न समझें तो दुःख होता है और हक दर्द भी लगता है, परन्तु मोक्ष के ध्येय का लाभ न समझें तो उसका दुःख भी नहीं और दर्द भी नहीं।

मोक्ष के ध्येय का विचार आना ही मुश्किल है, मोक्ष का ध्येय समझाना इससे भी मुश्किल है, मोक्ष के ध्येय के लिये आचरण ता इससे भी मुश्किल है और मोक्ष के ध्येय में टिकना सबसे मुश्किल है। कारण कि 'मैं कौन' यह किसी को समझाने की आज आवश्यकता नहीं है। परन्तु हरेक "करना क्या है" यह विचारने के लिये प्रत्येक को समझाने की आवश्यकता है। अर्थ, काम और विषय के अधीनस्थ स्वयं, आत्मा सिवाय कुछ नहीं है। यह सब ही मानते हैं, परन्तु उन्हें अर्थ, काम, विषय, अहंता और ममता के त्याग की बात भी सुनना पसन्द नहीं है।

मनुष्यभव देवताओं के लिए भी दुर्लभ कहा है, कारण कि देवता भी मनुष्य भव में आये बिना मोक्ष की साधना नहीं कर सकते हैं या मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं। देवताओं को भी दुर्लभ ऐसे मनुष्य भव को प्राप्त कर हम अपनी आत्मा की सेवा करने की अपेक्षा शरीर की सेवा करें, एवम् इन्द्रियों के स्वामी बनने के बजाय उनके गुलाम बनें तो पापका और भवका भय नष्ट होता है। उत्तम क्रियाएं करते हुए भी मोक्ष से च्युत होकर मानुषी और देवी सुखों को प्राप्त करने की लालसा जगती है जिससे विषयों का वैराग्य अशक्य बनता है एवम् कषाय त्याग

नहीं हो सकता है और अप्रमत्त भाव या गुणानुराग भी प्रकट नहीं हो सकता है। इस प्रकार से हमारी समस्त उत्तम क्रियाएं मोक्ष साधक होने की अपेक्षा मोक्ष घातक बनती हैं, अतः सभी उत्तम क्रियाओं को मोक्ष घातक के बजाय मोक्ष साधक बनाने के लिए उनकी दिशा बदलकर एकमात्र मोक्ष का ही ध्येय सुनिश्चित करने की और मोक्ष के ही विचार से सभी क्रियाएं या प्रवृत्तियां करने की, आवश्यकता उन सब को है जो कि मोक्षदायक धर्म का आचरण करना चाहते हैं। प्रतिदिन विचार करें कि—

(अ) मैं शरीर की सेवा से मुक्त होकर आत्मा की सेवा में कितना लगा ?

(ब) जड़ (अर्थ, काम) के संसर्ग में से उसकी आसक्ति सहित मुक्त होने का मैंने कितना प्रयत्न किया ?

(ग) मैं संसार से और पाप से डरने वाला कहाँ तक बना ?

(द) मैंने इन्द्रिय संयम से विषय वैराग्य, मन संयम से कषायत्याग और अप्रमत्तभाव कितना प्राप्त किया ?

(य) भोग और ऐश्वर्य में लोलुपी बुद्धि को मैंने आत्म-निष्ठ बनाकर गुणानुराग कितना विकसित किया ?

शरीर की सेवा में से मुक्त होने का अर्थ है माया और

सरल बनना।

—:सादा बनने का तात्पर्यः—

बने जहां तक आवश्यकताए कम करना। आवश्यकताए कम तभी होती हैं जब कि संसार भय या पाप भय आता है। संसार भय या पाप भय आते ही इन्द्रियों का संयम तथा मन का संयम स्वाभाविक तौर से सरल बन जाता है। इस प्रकार पाप से बचा जा सकता है और नया कर्मबंध नहीं होता है, अर्थात् संवर होते हुए निर्जरा (कर्म नाश) हो तो भी कर्म बंधे तो शुभ ही बंधता है। वह शुभ बंध (पुण्यानुबंधी पुण्य) मोक्षदायक ही होता है जिससे परम्परा से मोक्ष साधा जा सकता है।

—:सरल बनने का तात्पर्यः—

सुनीतिवान् बनना या हृदय से पवित्र बनना। मोक्ष के इरादेसे ही नीतिका आचरण करना। हृदय पवित्र होने पर दंभ कषाय आदि का नाश स्वयं होता है। सब पापों के मूलरूप अर्थ, काम का त्याग या आसक्ति सहित जड़ की संगति का त्याग सरल बनता है। दोनों समय कीजाने वाली आवश्यक क्रियाए भी हृदय की शुद्धि के लिये ही हैं।

(३) मोक्ष ध्येय निश्चित कब हो ?

प्रश्न मोक्ष ध्येय निश्चित कब हो ?

उत्तर आराधना (भक्ति) शुद्ध हो तब।

प्रश्न आराधना शुद्ध कब हो सकती है ?

उत्तर ममता जाय और समता आवे तब।

प्रश्न यह कब हो सकता है ?

उत्तर- स्व (आत्मा) में स्वबुद्धि और पर (आत्मा सिवाय समस्त वस्तुएं शरीर तक) में पर बुद्धि हो तब। पर का संयोग छूटने पर ही समता आती है यही बात नहीं है वरन् पर पदार्थों में जो मेरापन बैठा हुआ है (घुसा हुआ है,) वह जाय, और स्व (आत्मा) में मेरापन की बुद्धि पैदा हो, तब ही भूमिका के अनुरूप समता आती है और पर पदार्थों की ममता जाती है।

पर पदार्थों को उनके वास्तविक स्वरूप में समझकर त्याग भावनाओं को विकसित करें तो मोक्ष निश्चित हो जाय। पर पदार्थ न छूटें, केवल इसीसे मिथ्यात्व (माया भ्रमणा) नहीं जाता है किन्तु पर के (पौद्गलिक) सुख, दुःखरूप मालूम होकर उन्हें छोड़ने की अभिलाषा न जागृत हो एव

मोक्षदायक धर्म ही केवल आचरण के योग्य और मोक्ष ही केवल प्राप्त करने योग्य है ऐसा प्रतीत न हो, यही वस्तुत मिथ्यात्व है।

अर्थ और काम की कमी जितनी खटकती है एव चिन्ता का विषय बनी रहती है, क्या उतनी ही कमी या चिन्ता मोक्षदायक धर्म का पूर्णतया आचरण नहीं होता है इसकी होती है? इतनी अधिक आराधना करने पर भी अर्थ, काम, अहकार और ममत्व की लालसा क्यों कम नहीं होती है, और उसी लालसा को पोषित करने के लिए ही प्रत्येक क्रिया हम करते है, क्या, यह विचार सदा मस्तिष्क म उपस्थित रहता है?

(४) धर्म और उसके प्रति रुचि कब हो?

श्री वीतराग परमात्मा की आज्ञा "यही धम और यही धन" यह मति निरन्तर हृदय में स्थापन करने जैसी है। श्री वीतराग परमात्मा की आज्ञा जिसके हृदय में बैठी उसके अशुभ दिन गये और शुभ दिन आये। पर के (पौद्गलिक) सुखों की लालसा डुबाने वाली है, यह हृदय में बराबर जँच जाय (ठस जाय) तो धर्म की आराधना सुन्दर प्रकार से हो सकती है। हजारों अधर्मियों के बीच मे एक ही धर्मी यदि दृढ रह तो उसका असर अवश्य

हो होता है। भव निवृत्ति और मोक्ष-प्राप्ति के लिये ही धर्म है। धर्म तरने के लिए है, डूबने के लिए नहीं। मोक्षदायक धर्म के सेवन से जो सांसारिक सुखों में मग्न एवं उन्नत बनने की इच्छा रखते हैं, वे अविद्या की दृष्टि में नष्ट हो रहे हैं।

सम्यग्दर्शन:- तत्त्वभूत पदार्थ के प्रति पूर्ण विश्वास प्रकट करना।

सम्यग्ज्ञान:- जीव अजीव आदि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान।

सम्यक्चारित्र:- श्री वीतराग प्रभु की आज्ञा के अनुसार समाधि (समता) पूर्वक पर पदार्थ (शरीर) तक को छोड़ने की क्रिया, आत्म-रमणता।

सम्यग्दृष्टि आत्मा, अर्थ और काम में लिप्त हुआ है केवल इसी लिए वह अयोग्य है यह उचित नहीं, परन्तु यदि वह अर्थ और काम को सेवा के योग्य माने, तब ही वह अयोग्य है। वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। यदि व्यवहार से वह धर्मात्मा गिना जाता हो तो भी उसे गुण की प्राप्ति नहीं है। सम्यग्दृष्टिपन का अर्थ है शरीरादि की अनुकूलता की अनिच्छा और प्रतिकूलता की इच्छा। अनुकूलता की इच्छा प्राप्त हुई कि सम्यग्दृष्टिपन गया। प्रतिकूलता

की इच्छा अर्थीपन लाने के लिए —

(१) किसी को प्रतिकूलता (दुःख) देकर अनुकूलता-सुख प्राप्त नहीं करना।

(२) किसी का बुरा नहीं सोचना, या बुरा करने में भाग नहीं लेना। यदि भाग लेना ही पड़े तो किसी का भला करने में लेना।

भव (संसार) का भय या पाप का डर उत्पन्न हुए बिना धर्म के प्रति रुचि या सम्मान पैदा नहीं होता। यदि सच्चे सुख की चाहना है तो मोक्षदायक धर्म का आदर करना चाहिए।

यदि अर्थ और काम के लिये मोक्षदायक धर्म का उत्सर्ग (बलिदान) हो जाय तो क्या आत्मा में दुःख होता है उसमें टीस उत्पन्न होती है ? सांसारिक सुखों को देख कर नेत्र तृप्त होते हैं, यह किस कारण से ? हम किसके दास हैं, क्या यह कहने की आवश्यकता है ?

क्या कभी यह भी विचार आता है कि मोक्षदायक धर्म की आराधना महान पुण्य से प्राप्त हुई है ? इसलिए यदि ढंग से न चलें, इन्द्रियों के गुलाम बनें और अस्य पापों से बचने में (बेदरकार) उपेक्षित रहें तो आत्मा का नुकसान होता है। पाप के भय बिना केवल दिखावे के लिए मोक्षदायक धर्म की बातें निरा आडम्बर है जो कि आत्मा को तारने के बजाय डुबाता है। पाप के भय बिना धर्म रुचि कैसी ?

(५) आलम्बन

जैसा दर्पण वैसा मुख। मुख का दाग अच्छा, मगर दर्पण का दाग खराब। दर्पण में दाग हो तो मुह पर दाग न होने हुए भी दाग दिखाई देगा, और उस दाग को दूर करने के लिए घिसें तो चमड़ा लाल होगी, जलन होगी, खून निकलेगा और जहा दाग (निशान) न था वहा नया बन जायगा। अतः दर्पण साफ होना चाहिए। श्री वीतराग भगवान शुद्ध आलम्बन या दर्पण है। इस आलम्बन को लक्ष में रखकर अनुसरण करें तो आत्मा में आई हुई मलिनता दूर हो और आत्मा शुद्ध बनकर उसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रकटें। इन तीनों का समन्वय हो तभी मोक्ष सरल बनता है।

(६) मोक्ष के लिए साधनों का विचार

साध्य - मोक्ष- (ध्येय का विचार)

साधना.- मोक्षदायक धर्म की आराधना।

मोक्षदायक धर्म की आराधना, पर (पुद्गल, नाशवान सुखों की प्राप्ति) के लिए न करके परमात्म मोक्ष की प्राप्ति के लिए करने की विशेष आवश्यकता है। पर लोक को सुधारने की चिन्ता में इस लोक के सुखों को भूल जाना

चाहिए। मोक्ष की इच्छा वाले को निम्न बातों का विचार करना चाहिये —

(१) ध्येय का विचार और अभ्यास।

(२) श्री वीतराग परमात्मा की आज्ञा।

(अ) विषय वैराग्य।

(ब) कषाय त्याग

(स) गुणानुराग।

(द) राग द्वेष और अज्ञान का त्याग।

(य) आवश्यक क्रियाओं में अप्रमत्तता।

(३) अनुष्ठान की शुद्धि।

(अ) अहंता ममता का त्याग।

(ब) समता का स्वीकार।

(४) भव भीति या पाप भीति।

(५) सुविवेक।

(६) भावमगल (हेतु की शुद्धि)

(७) वीतरागता।

(८) परिणामदर्शिता (शीघ्र परिणाम का त्याग और दीर्घ परिणाम का स्वीकार)

(९) आत्म निरीक्षण।

(१०) पश्चात्ताप।

(१) ध्येय का विचार अर्थात् बुद्धि से केवल मोक्ष

का ही निश्चय करना, मन में केवल मोक्ष की ही लगन, मोक्षदायक धर्म की आराधना से मोक्ष में ही श्रद्धा और मोक्षदायक धर्म या मोक्ष का ही केवल आश्रय।

(२) श्री वीतराग परमात्मा की आज्ञा ही धर्म, अर्थात् उनके द्वारा उपदिष्ट मोक्षदायक धर्म जिसकी कसौटी विषय वैराग्य कषायत्याग, अप्रमत्तता, गुणानुराग और राग द्वेष तथा अज्ञानता का त्याग कराकर स्व और पर का भेद समझावे।

(३) आराधना, भक्ति या अनुष्ठान की शुद्धि- जहां तक पर वस्तु की ममता का त्याग नहीं हुवा अथवा पर वस्तु की ममता त्यागने योग्य नहीं जची वहां तक समता आ नहीं सकता और रुचिकर भी नहीं लगसकता। समता की रुचि और पर-वस्तु की ममता की अरुचि ही अनुष्ठान शुद्धि है।

(४) जहां तक मनुष्य को वारवार मरने का भय नहीं लगता वहां तक भवभीति या पाप भीति (भव भीरुता या पाप भीरुता) नहीं आसकती, और कदाचित् आ भी गई तो टिक नहीं सकता। भव भीति ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है और मोक्ष प्राप्ति का साधन है। भवभीति आई कि काम का प्राप्ति के लिये का नानेवाला अनीति, पाप आदि खटकने लगते हैं। उन्हें छोडने का प्रयत्न होता है

और वे छूटते हैं। इस प्रकार से अर्थ और काम विष जैसे लगें तो इन्द्रियों की अधीनता छूट जाय और संयम आ जाय। इतना होने पर कषाय-त्याग, अप्रमत्त-भाव और राग द्वेष, अज्ञानता का त्याग जरूरी प्रतीत होने लगता है और गुणानुराग प्रकट होता है जिससे पर पदार्थों की ममता जाती है और समता आती है इतना हो तभी आराधना शुद्ध बने, मोक्षदायक धर्म फले और परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त हो।

(४) मोक्ष ही ध्येय हो तो सुविवेक प्रकटे और क्रिया भी शुद्ध हो। परन्तु केवल क्रिया को ही महत्व देने वाले में यदि विवेक न प्रकट हुआ हो तो मोक्ष ध्येय निश्चित नहीं बनता और इसीसे क्रिया पाप का बंध कराने वाली बनती है। क्रिया की शुद्धि के लिए सुनिश्चित ध्येय की अत्यन्त आवश्यकता है कारण कि क्रिया का प्राण, शुभ ध्येय या शुभ भाव है। अतः शुभ ध्येय रहित क्रिया प्राण रहित शरीर की तरह है। सामान्यतः लोग क्रिया में लग सकते हैं परन्तु ध्येय में दृढ होना सुविवेक प्रकट हुए बिना अशक्य है। अतः क्रिया करने वाले को सत्संग द्वारा सुविवेक प्रकटाकर मोक्ष ध्येय में दृढ होने का प्रयत्न करना चाहिए।

(६) उत्तम क्रिया के साथ हेतु भी उत्तम होना चाहिए कारण कि उत्तम क्रिया और पापी मनोवृत्ति का योग अनर्थकारी है। शुभ मनोभाव धर्म का प्राण है। अतः भाव शुद्धि की तरफ विशेष लक्ष देना चाहिए। भाव शुद्धि के लिए इन्द्रिय-संयम, मन संयम और सम बुद्धि को प्राप्त करना चाहिए। इन्द्रिय संयम होने पर विषय वैराग्य, मन संयम होनेपर कषाय त्याग और अप्रमत्त भाव, गुणानुराग होने से अहंता ममता का त्याग होता है, बुद्धि में समत्व आने से राग द्वेष अज्ञान का त्याग हो सकता है। इस प्रकार से भाव शुद्धि के बिना मोक्षदायक धर्म का आचरण शक्य नहीं है, अतः प्रत्येक क्रिया में हेतु की शुद्धि करने के लिए भाव मंगल की तरफ ध्यान देना चाहिए।

(७) केवल आत्मा के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं के प्रति सम्पूर्ण उदासीनता ही वैराग्य या वीतरागता है। वैराग्य आने के पश्चात् पररमणता से हटकर आत्मरमणता में सुदृढ़ होना सुगम सरल हो जाता है, अतः वैराग्य की तरफ खास लक्ष देना चाहिए।

(८) मोक्षदायक धर्मसे तात्कालिक लाभ देवगति तथा सांसारिक सुख वैभव अवश्य मिलता है परन्तु उस तात्कालिक लाभ की इच्छा से परिणामतः नुकसान होता है। मोक्ष के ध्येय रहित धर्म के आचरण में कई

कल्याण समझते हैं परन्तु वास्तविक कल्याण किसमें है यह वे नहीं जानते। धर्माचरण से वे सांसारिक या दैव सम्बन्धी सुख की इच्छा करते हैं और उन सुखों को भोग कर अंत में अधोगति को प्राप्त होते हैं। इस तरह से दीर्घ परिणाम दर्शिता के बिना धर्माचरण से तरने की अपेक्षा वे डूबते हैं। अत दीर्घ परिणाम दर्शी बनने की विशेष आवश्यकता है।

(६) धर्माचरण करनेमें हमारा उद्देश्य क्या है? इसका हमेशा विचार करना चाहिए और दूसरों के दोष नहीं देखने चाहिये। यदि कभी दोष देखने की इच्छा हो तो अपने ही दोष देखें जिससे उन दोषों को छोडना सरल हो जाय। यदि कारण वश दूसरों के दोष देखने का अवसर प्राप्त हो तो उससे अलग हो जावें, जिससे चित्त मलीन न हो। आत्मा जैसा निमित्त देखता है वैसा मलीन या निर्मल बनता है। योगियोंकी तरहमें हमारा मनोबल मलीन वातावरण म भी निर्मल बना रहे, वैसा अभ्यास नहीं है, अत आत्मोन्नति की इच्छा वाले को आत्मनिरीक्षण करने की आदत डालकर आत्म- शुद्धि करना चाहिये।

(१०) आत्म शुद्धिके लिये आत्मनिरीक्षणकी जितनी जरूरत है उतनी ही जरूरत किए हुए पापो के पश्चात्ताप की भी है। पश्चात्ताप के बिना आत्म निरीक्षण सफल नहीं

यन सकता। हम अपने दोषों का चाहे जितना विचार करें परन्तु जब तक वे दोष छोड़े नहीं जाते, हृदय में उनके लिए दुःख पैदा नहीं होता। आत्म-निरीक्षण के साथ ही साथ अपने नहीं छोड़े जाते दोषों का पश्चात्ताप भी आत्म शुद्धि के लिए परम आवश्यक है। साधन बिना साध्य की प्राप्ति अशक्य है। मोक्षदायक धर्म को प्रकट करने, सफल करने के लिये साधन को, विचारों की शुद्धि कीजाय तब ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

★ ❀ ★ ❀ ★

(७) अनुष्ठान या भक्ति

अनुष्ठान अर्थात् क्रिया, उपासना या भक्ति। अनुष्ठान की शुद्धि, परकी ममता छोड़ने से और समता धारण करने से हो सकती है। अनुष्ठान पांच हैं। विषानुष्ठान, गरानुष्ठान, अननुष्ठान, तद्धेतु अनुष्ठान, अमृतानुष्ठान। इन पांच अनुष्ठानों के भी दो भेद हैं — असद् अनुष्ठान, सद् अनुष्ठान।

असद् अनुष्ठान— जिसमें विषानुष्ठान, गरानुष्ठान और अननुष्ठान का समावेश होता है। ये अनुष्ठान परिणाम में दुःख देने वाले होनेसे ज्ञानियोंने इन्हें असद् अनुष्ठान कहा है।

सद् अनुष्ठान— जिसमें तद्हेतु और अमृतानुष्ठान का समावेश होता है। ये शुरू में दुःखदाई परन्तु परिणामत तारने वाले होने से ज्ञानियों ने उन्हें सद् अनुष्ठान कहा है।

(१) विषानुष्ठान— मोक्षदायक धर्म भी यदि इहलौकिक सुखों की इच्छा से पाला जाय तो यह विषानुष्ठान है, इससे तरने के बजाय डूबते हैं।

(२) गरानुष्ठान— मोक्षदायक धर्म भी यदि दैवी सुखों की इच्छा से पाला जाय तो यह गरानुष्ठान है। विष उसी समय मारता है जब कि गरल धीरे २ मारता है। दैवी सुख भी अन्त में डुबाने वाले हैं।

(३) अन अनुष्ठान— शास्त्र वचन से विरुद्ध और आत्माके अध्यवसाय से रहित, शून्य मन से, स्वेच्छा से, लोक रंजन के लिए की जाने वाली छोटी बड़ी तमाम क्रियाएं त्याज्य हैं। ऐसी क्रियाएं अननुष्ठान कहलाती हैं।

(४) तद् हेतु अनुष्ठान (५) अमृतानुष्ठान— इस लोक के चक्रवर्तीपन को भी विषसमान माने और इन्द्रासन एवं देवांगनाओं के भोगों को जहर तुल्य समझे, मानवी या दैवी सुखों की इच्छा बिना केवल मोक्ष की अभिलाषा से ही क्रियाएं करे, यह तद्हेतु अनुष्ठान एवम् अमृतानुष्ठान है।

इसे किसी भी क्रिया या व्रत का आरम्भ करने से पूर्व दस मिनट तक शान्त चित्त से ध्येय का विचार करना चाहिए।

मनुष्य मात्र को कल्याण की कामना होती है, कल्याण मोक्षदायक धर्म के पालन बिना अशक्य है। कल्याण की प्राप्ति में मत भेद नहीं है, परन्तु मत भेद तो कल्याण की मान्यता में है। अज्ञानी, पर के (मानवी और दैवी) सुखों को प्राप्त करने में कल्याण मानते हैं, जब कि ज्ञानी पर के सुखों के त्यागने में और मोक्षदायक धर्म के सेवन से प्राप्त होते हुए आत्म सुख में ही कल्याण मानते हैं।

हम धर्म के बाह्य साधनों में जितना लक्ष देते हैं उतना लक्ष धर्म के आंतरिक साधना में नहीं देते। हम उत्तम धार्मिक क्रियाएं करने में जितना अधिक लक्ष देते हैं उससे कितने ही अंश कम लक्ष, सार, असार का विचार करने में, अपने दोषों का निरीक्षण करने में, पश्चात्ताप करने में नहीं देते। इससे तो उत्तम धार्मिक क्रियाएं मोक्ष का कारण होने के बजाय बंधन का कारण होती है अर्थात् भव भ्रमण कम होने के बजाय बढ़ता है। हम सब कहते तो यही हैं कि ऐसी उत्तम क्रियाएं हम मोक्ष के लिए करते हैं परन्तु अन्तर में तो धार्मिक क्रियाओं से यही इच्छा रहती है कि संसार सर सब्ज बने सब वाटिका हरी भरी हो जाय।

इसका परिणाम यह निकलता है कि निर्जरा के और पुण्या नुबन्धी पुण्य के साधन पापानुबन्धी पुण्य में परिवर्तित हो जाते हैं। मोक्षदायक धर्म के अभिलाषी के लिए ध्येय का विचार, सुविवेक, आत्मनिरीक्षण और स्वदोषों का पश्चात्ताप अत्यन्त आवश्यक है। वही क्रिया उत्तम है जिसका परिणाम उत्तम है। क्रिया उत्तम होते हुए भी यदि उसका परिणाम अधम निकलता है तो वह क्रिया वास्तविक क्रिया नहीं है। मोक्ष के ध्येय से की हुई क्रिया ही उत्तम क्रिया है और अर्थ काम तथा बड़प्पन, ममता के लिए की जाने वाली उत्तम क्रिया भी संसार में भटकानेवाली है। क्रिया के साथ उसका भाव-हेतु भी शुद्ध होना चाहिए। क्रिया का प्राण तो उत्तम हेतु ही है। ज्ञानी बनना आसान है परन्तु ज्ञान का रहस्य पाना कठिन है। कारण कि मोक्ष के ध्येय बिना, और मानवी तथा दैवी सुख झूठे प्रतीत हुए बिना, ज्ञान का रहस्य पाया नहीं जा सकता। अपने आपको अच्छा कहलाने और अच्छा मनाने की इच्छावाला ज्ञान तो प्राप्त कर सकता है परंतु ज्ञान के रहस्य को प्राप्त नहीं कर सकता, इससे वास्तव में वह ज्ञान नहीं है परन्तु अज्ञान ही है।

मान लें, यदि मुक्ति आरोग्य है तो मोक्षदायक धर्म उसकी औषध है और अर्थ, काम, ममता कुपथ्य है।

(८) संसार का सुख कब छूटे ?

घर बार, कुटुम्ब, परिवार, धन दौलत, स्त्री पुत्र, मित्र सम्पत्ति, शरीर मन, इन्द्रियें ये सब तुम्हारे या तुम इनके ?

मोक्षकी चिन्ता जब आत्मामें जगती है, तब सांसारिक सुखों का आनन्द उड़ जाता है। मोक्षदायक धर्म के आचरण में परक (मानवी व दैवी) सुखों को भूल जावें तभी मोक्षदायी धार्मिक क्रियाओं में वास्तविक आनन्द आता है और पर (आत्मा के सिवा समस्त पदार्थ) के त्याग में और स्व (आत्म) के राग में सच्चा कल्याण प्रतीत हो।

★　★　★

(६) पर के संसर्ग में धर्मात्मा के विचार

पर (आत्मा के अतिरिक्त सब पदार्थ) का संसर्ग होने पर विचारो कि, यह मेरा नहीं है, साथ में आया नहीं था, साथ में आएगा भी नहीं, इच्छा से या अनिच्छा से उसको छोड़ना ही पड़ेगा और अन्यत्र जाना पड़ेगा, अत यह कहलाने की अपेक्षा कि, बिचारा छोड़कर गया, यह कहलाओ कि, बहादुर लात मारकर चला गया।

परलोक (मोक्ष) की फिक्र वाला वहां जाने की तैयारी किए बिना कैसे रह सकता है ? परलोक सुधारने की इच्छा वाले को इह लोक (नाशवान सुख) को भूल जाना चाहिए।

— ० —

(१०) परके नुकसानमें धर्मात्माके विचार

पर (आत्मा के अतिरिक्त तमाम नाशवान पदार्थ) में से ममत्व (मेरेपन की बुद्धि) का त्याग ही सच्चा सुख का उपाय है।

कोई कहे "घर गिर गया" तो वह कहे "मेरा नहीं था। कोई कहे, "पुत्र मर गया", तो वह कहे, "मरना ता था ही"। कोई कहे, "लक्ष्मी गई", वह कहे, "जाने वाली थी"। कोई कहे, 'पेट में गड्ढा पडा है", वह कहे, पाप का उदय"।

यदि कोई उसके यहां से बीस पचीस लाख की संपत्ति चुराले तो भी उसे हैरान करनेकी भावना न होकर उल्टा यह विचार आये कि, "पर की संगति छूटती नहीं थी, मै जान बूझकर छोडता नहीं था, छोडने की हिम्मत

भी नहीं थी, अतः उसका भला हो कि मुझे पर (पौद्गलिक वैदिक पदार्थों) से छुड़ाया, कारण कि पर पदार्थों की चाहे जितनी रक्षा करें, परन्तु अशुभ का उदय होगा तब वे नहीं रह सकेंगे, नष्ट हो जावेंगे। ऐसा दृढ़ निश्चय धर्मात्मा पुरुष का होता है।

यदि आत्मा को वास्तविक रूप से पहचान लिया हो तो अवसर आने पर ममता का पागलपन न जग कर समता का चातुर्य स्थिरता से टिका रहता है।

पाप के उदय से ऐसा भी अवसर आ सकता है कि विना अपने साथ न रहें, स्त्री साथ में रहने से इन्कार हो, सन्तान भी बदल जाय और स्नेही, सगे सम्बन्धी तिरस्कार करें, तो भी इनमें से किसी को दोष न देकर यह मानना चाहिए कि, पाप का उदय, अशुभ का उदय। अच्छा हुआ कि अभी अशुभ कर्मों का उदय हुआ जो कि समभाव से सहन हो जायेंगे। जो आप सो भुगत जायेंगे और इनको सम भाव से भोगते हुए अन्य बहुत से कर्म भी नष्ट होंगे। धर्मात्मा को इस लोक का कष्ट नहीं और परलोक की चिन्ता नहीं, कारण कि — उसे विश्वास होता है कि मोक्षदायक धर्म से मुक्ति मिले बिना रहेगी नहीं, अवश्य मिलेगी। मुक्ति न मिले वहां तक इसको इच्छा करते हुए भी देव और मानवों सुख इसका पीछा नहीं छोड़ते फिर भी

खूबी यह है कि जैसे २ उसे दैवी और मानवी सुख मिलते हैं वैसे २ उन सुखो के प्रति उसकी अरुचि बढ़ती जाती है। शायद पूर्वकर्मानुसार अत्यन्त कठिन आपत्ति भी आवे तो भी वह घबराता नहीं है। यह पुण्यानुबन्धी पुण्य समझना जो कि मोक्ष मार्ग के साधन में मार्गदर्शक रूप है।

(११) अज्ञानी दुःखसे डरता है, ज्ञानी सुख से डरता है।

अज्ञानी पौद्गलिक दुःख से डरता है जब कि ज्ञानी पौद्गलिक सुख के डर से डरता है। अज्ञानी दुःख का कारण पाप नहीं समझता है और उस दुःख को दूर करने के लिए और पाप करता है। ज्ञानी दुःख का कारण पाप समझता है और उसे समतापूर्वक सहन करने से वह दूर होता है, ऐसा समझकर समभाव से उसे सहता है। सम्यग्ज्ञानी पर (आत्माके अतिरिक्त तमाम नाशवान पदार्थ शरीर तक) के सुख भी आत्म सुख से वंचित रखने वाले होने से उनसे उद्विग्न होकर उनका रटन छोड़कर आत्म सुख की रटन में ही मग्न रहता है।

इस प्रकार से पर का दुरसार शीघ्र परिणामदर्शी

अज्ञानियों को दुःखमात्रदायक लगता है तब कि, वही परिणामदर्शी ज्ञानियों को लाभदायक लगता है। इस धर्म के शासन को भी स्वीकारते हैं तथा जो धर्म के शासन से दुःखी हो रहे हैं और भविष्य में होंगे।

लाभ का विचार परिणाम से समझा जाता है, अतः हमें दीर्घ परिणाम दर्शी बनना चाहिए। अर्थ, काम अदत्ता और ममत्व ये तात्कालिक लाभप्रद नजर आते हैं परन्तु सम्यग्ज्ञानी जो कि दीर्घ परिणाम दर्शी हैं उन्हें ये प्रायः लाभ नहीं होते हैं, कारण कि विवेक बिना उनका सदुपयोग होना असम्भव है, इस कारण उनका दुरुपयोग भोग में हो जाता है और यदि धर्म का होता है तो भी लालसा पूर्वक होता है उनके द्वारा पुण्यानुबन्धी पुण्य के बजाय पापानुबन्धी पुण्य बंधता है जो कि संसार में भटकाने वाला है।

आत्म कल्याण की जिसको खोज है उस अर्थ, काम अदत्ता और ममत्व का दुरुपयोग आत्मिक लाभ करने वाला लगता है, जिससे वह विवेक पूर्वक जीवन का आचरण कर मोक्ष सुख प्राप्त कर सकता है। इसलिये यह वस्तु के लाभ में भी हमें आत्मिक लाभ को लक्ष्य में रखकर ही लाभ या हानि की गिनती करना चाहिए। दुःख का निवृत्ति करना में भी हमें आत्मिक दुःख की निवृत्ति का ध्यान …

चाहिए।

यदि कोई हमें हराता है तो हमारी आत्मा का कुछ भी अहित नहीं होता। कारण कि हमारा पूर्व का उपार्जित कर्म ही ऐसा था। यदि अपने मन में और स्वभाव में रहें तो आत्मा का कुछ भी अहित नहीं होता है उल्टा शुभ। कैसे इन कर्मों का नाश होता है। क्रोध का हमें जो मौका आता है वह आत्मा का अहित होता है, कारण कि इससे तो आत्म भावना का अशुभ अध्यवसाय। किया होता है। कभी धर्म का भी आत्मा का अहित दूर किया जा नहीं सकता।

(१२) सद्गति प्राप्त करना है या दुर्गति?

हमें मोक्ष की साधना में सहायक सद्गति प्राप्त करना है, या संसार में भटकानेवाली और दुःख में पटकनेवाली दुर्गति प्राप्त करना है? यदि सद्गति प्राप्त करना है तो मोक्षदायक धर्म के सहारे से पापाचरण द्वारा पौद्गलिक सुखों को प्राप्त करने की अभिलाषा छोड़ना पड़ेगी। हम तो मोक्षदायक धर्म के सहारे भी पापाचरण करते हैं इससे सद्गति मिले? क्यों? बदले दुर्गति अवश्य मिलेगा।

(१३) निश्चिन्त कौन रह सकता है ?

जो मोक्षदायक धर्म के शरण में चला जाता है उसे चिंता नहीं रहती। फिर तो धर्म की ही चिंता। केवल धर्म ही साध्य, अन्य जो कुछ करना पड़ता है वह मजबूरी हालतमें। धर्म आया तो सब कुछ आया समझना चाहिए। धर्म की रक्षा करने वाले की धर्म भी रक्षा करता है। धर्म सबसे महान् और सर्वोत्तम रक्षक है। धर्मो रक्षति रक्षित।

—— ०——

(१४) धर्मात्मा का संतोष।

यदि धर्मात्मा संसार कार्य में हो, किसी वस्तु की अत्यन्त आवश्यकता में हो, उसके बिना काम रुकता हो फिर भी सोचता है कि —

"पुण्य होगा तभी मिलेगा।"

धर्मात्मा को संसार व्यवहारके लिए व्यवसाय करना पड़े तो वह इस प्रकार से करता है —

(१) नियुक्त समय के लिए ही करता है,

(२) जाति आदि का त्याग कर धर्म में दृढ़ हो मिलता है उसी में संतोष मानता है।

(३) योग्य उपाय करे। पर भी नहीं मिले तो उसका शोक नहीं करता है। पर पदार्थों की अधिक चिंता, धन का संचय करने वाले हैं।

मात्र निर्वाह के लिए पर्याप्त मिल जाय तो उतने से ही धर्मात्मा पुरुष संतोष मानता है। इसलिए श्रुत का कारण है।

इच्छा करने का भाव कम करो, और प्राप्त का उपभोग करो। मैं धनी और मुझे पैसा मान कर अलौकिक अभिमान में प्रमाद पड़ा हुआ धर्म में टिक नहीं सकता।

मोक्ष के इच्छुक पुरुषार्थी पाप को पुण्य नहीं माने और यदि पाप करना ही पड़े तो कम से कम पाप कर डरता हुआ, पापको हृदय से मजबूर न करे। उसके निर्वाह के लिए (१) पेट भी न भूखा हुआ भोजन (२) शरीर ढकने के कपड़े (३) रहने की झोंपड़ी या रहने का स्थान। यदि इतना ही पुरुषार्थ करने से विशेष की आवश्यकता प्रतीत नहीं होगा वह अल्प परिग्रही और अल्पारंभी हो सकता। इसलिए इसके लिए इच्छाओं पर रोक करना और जीवन को अधिक से अधिक संयम में रखने की आवश्यकता है।

(१५) धन के लिए क्यों भटकना पड़ता है?

धर्म धन गुम गया है इसी लिए तो तुच्छ धन के लिए भटकना पड़ता है। धर्म आया तो सब कुछ आया समझना चाहिए। धर्मात्मा लक्ष्मी को ढूंढने नहीं जाता वरन् लक्ष्मी उसे ढूंढती आती है, परन्तु कब? लक्ष्मी की इच्छा रहित धर्म करें तब। लक्ष्मी आती है तब भी मारती है और जाती है तब भी मारती है (दौलत दो लात मारती है)। जाती है तो छाती में मारती है जिससे ऊंचा नहीं देखने देती, और आती है तब कमर में मारती है जिससे अक्कड़पन से नीचे नहीं देखने देती) जाती है तब ऊंचा नहीं देखने देती है, और आती है तब नीचे नहीं देखने देती। जाती है तो शोक का पार नहीं, और आती है तो उन्माद का पार नहीं। धर्मात्मा ऐसे शोक और उन्माद से दूर रहें। धर्मशील पुण्यात्मा को दोनों तरह का आनन्द। जाय तो तापसी बने और आवे तो सदुपयोग करें, परन्तु भोग का कीड़ा न बनें। पुण्य के बल से ऐश्वर्य प्राप्त होता है और जब तक पुण्य हो, वहां तक टिकता है परन्तु ऐश्वर्य सुख का कारण नहीं है। जड़ पदार्थ के निमित्त से मिला हुआ सुख नाशवान ही है और इसमें लीन होने वाले को तो

(८) इत्यादि आदि का त्याग कर यथेष्ट सुख जो मिलता है उसी में संतोष मानता है।

(९) दोष प्रगट करने पर भी नहीं छिपे को उसका ग्रह नहीं करता है। यह पदार्थों की अधिक चिन्ता, भय व चिन्ता करने वाला है।

मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न किए जाने को इनको ही धर्मात्मा गृहस्थ ध्यान लगाता है। सम्यक्त्व गुण का धारक है।

सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर धन यदि आवे, और ज्ञान भी बढ़ जाये, तो उसको ऐसा माने। मैं धनी और मैं ज्ञानी नहीं। धार्मिक ज्ञान के अभिमान में मस्त बना हुआ भव में फिर नहीं रहता।

मोक्ष के इच्छुक पुण्यात्मा पाप को पुण्य नहीं माने और यदि पाप करता हो तो कम करे- पाप का डरता हुआ, पापन हृदय से मजबूर न करे। उस स्थिति के लिए- (१) नम भी न गुरुदान धर्म भोजन (२) नित्य प्रति मन्दिर दर्शन (३) कर्म की भीतर में शक्ति जगा। यदि इतना ही पुरुषार्थ करना विशेष का आवश्यकता प्रतीत नहीं होता पर अल्प परिग्रही और अल्पारंभी हो सकेगा। ऐसा बनने के लिए इच्छाओं पर रोक लगायेगी और जीवन को अधिक से अधिक संयम में रखने की आवश्यकता है।

-:०:-

(१५) धन के लिए क्यों भटकना पड़ता है?

धर्म धन गुम गया है इसी लिए तो तुच्छ धन के लिए भटकना पड़ता है। धर्म आया तो सब कुछ आया समझना चाहिए। धर्मात्मा लक्ष्मी को ढूंढने नहीं जाता वरन् लक्ष्मी उसे ढूंढती आती है, परन्तु कब? लक्ष्मी की इच्छा रहित धर्म करें तब। लक्ष्मी आती है तब भी मारती है और जाती है तब भी मारती है (दौलत दो लात मारती है)। आती है तो छाती में मारती है जिससे ऊंचा नहीं देखने देती, और जाती है तब कमर में मारती है जिससे बचपन से नीचे नहीं देखने देती) आती है तब ऊंचा नहीं देखने देती, और जाती है तब नीचे नहीं देखने देती। जाती है तो शोक का पार नहीं, और आती है तो उन्माद का पार नहीं। धर्मात्मा ऐसे शोक और उन्माद से दूर रहें। धर्माधीन पुण्यात्मा को दोनों तरह का लाभ। जाय तो गयी धन और आवे तो सदुपयोग करे, परन्तु भोग का कीड़ा न बने। पुण्य के बल से वैभव प्राप्त होता है और जबतक पुण्य हो, वहांतक टिकता है [illegible] का कारण नहीं है। जड़ पदार्थ के निमित्त [illegible] सुख नाशवान ही है और इसमें लिप्त [illegible]

दुर्दशा होती ही है।

अमीरी भी उसको मिलती है और टिकती है जिसका पुण्य होता है। जिसका पुण्य न हो वह चाहे जितनी अनीति, लुचाई या बदमाशी करे, फिर भी अमीरी मिलती भी नहीं और टिकती भी नहीं। अनीति, लुचाई या बदमाशी करने से अमीरी मिलती है' यह मान्यता झूठी है, अनर्थकारी है और त्यागने योग्य है।

सांसारिक सुख के साधन प्राप्त करने के लिए एवं राग-रंग, मौज-शौक के लिए चौबीस घण्टों में कितने अधिक प्रयत्न होते हैं? इस काम से फुर्सत मिले तो धर्म करना यही बात है कि नहीं? यदि धर्म विपरीत भाव से सेवित किया जाय तो वह फलने के बजाय फूटता है, इसमें आश्चर्य ही क्या? मोक्षदायक धर्म के पुजारी मिटकर धन के पुजारी न बनो। धन के लिए धर्म करने वाले भी न बनो। केवल मोक्ष की इच्छा से धर्म करो। सच्चा धन सायम था आत्मगुण है। अर्थ, काम, अहंता या ममता, हमारे नहीं हैं, यदि ये नहीं छोड़े जाते हैं तो कायरता है।

लक्ष्मी, धर्म की दासी है। मोक्षदायक धर्म में सब सुख देने की शक्ति है, परन्तु ऐहिक या दैवी भोगों के लिए धर्म करोगे तो संसार में भटकते रहोगे। मोक्ष के

लिये धर्म करने वाले की सब चिंताएं धर्म करता है। प्राप्त हुई लक्ष्मी का सदुपयोग धर्म है, परन्तु धर्म करने के लिए लक्ष्मी पैदा करना धर्म नहीं है, कमाने की क्रिया पाप है। धर्म करने हेतु लक्ष्मी कमाने का प्रयत्न करने वाला, लक्ष्मी की लालसा में फस जाने से धर्म भूल जाता है। लक्ष्मी मिलने के पश्चात् परिणाम यह भी आसकता है कि आत्मा की विचार दशा फिर जाय और धर्म को ढोंग कहने लग जाय। लक्ष्मी की लालसा तीव्र हो जाय और कहने लगता है कि, "पाप तो है मगर चलता है।" लक्ष्मी आई कि विविध तरहके भोग भोगने वाला बन जाता है। धर्मात्मा धनवान की बात अलग है। अधिकार पाकर उन्मत्त न होने वाले कितने? विरले ही। लक्ष्मी मिली तो सदुपयोग करो, संग्रह करने की भावना न रखो। संग्रह पाप है। शास्त्रानुसार सदुपयोग करना, या तो निर्जरा का उपाय है या पुण्यानुबन्धी पुण्य का। अल्प प्रयत्न होते हुए भी पुण्य के प्रतापसे हजारों मिलें, यह बात अलग है। इस प्रकारसे अपने आप मिल जायतो सदुपयोग होना चाहिए, परन्तु पाप से डरने वाली आत्मा को तो पाप सेवन करने की इच्छा भी नहीं होनी चाहिए। आत्मधन या संयम के लिए चौबीस घंटोंमें कितने प्रयत्न किए जाते हैं यह विचारना चाहिए।

(१६) इच्छा

इच्छा दुःख है, अनिच्छा सुख है। पौद्गलिक इच्छा करने से भला कुछ भी नहीं होता वरन् पाप बढ़ते हैं। अतः पौद्गलिक इच्छा करना ही नहीं। अपने आचरण या काम ही हमें अच्छी या बुरी स्थिति में रखते हैं। आप जिस स्थिति में हों उस स्थिति में संतोष से रहो और मोक्षदायक धर्म के आचरण का प्रयत्न करो। पूर्व अवस्था की स्थिति का स्मरण कर, वर्तमान स्थिति में संतुष्ट होकर मोक्षदायक धर्म का सेवन करो। भविष्य की हानिकारक चिंता की अपेक्षा, मोक्ष की अभिलाषा से मोक्षदायक धर्म की चिंता करो। भविष्य स्वयमेव सुधर जाएगा।

---

(१७) सच्ची समझ

यदि आत्मा के अतिरिक्त समस्त पदार्थों को पर, नाशवंत, पराधीन, कर्मसत्ता के आधीन, भव परम्परा को बढ़ानेवाले और अशान्ति के कारण मानने और आत्मा को ही स्व पदार्थ मानने की समझ आजाय तो वही सच्ची

समझ है। जब सची समझ आगई तो आधी बाजी जीतली समझो।

पर पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा पाप इच्छा है। उन्हें नहीं प्राप्त करने की इच्छा और मिले हुए पदार्थों का सदुपयोग ही शांति का मार्ग है। जो कुछ इन्द्रियोंको अच्छा लगता है उसे प्राप्त करने की इच्छा दिन दिन बढ़ती जाती है। इस प्रकार से सब कुछ प्राप्त करने की इच्छा से तो पाप बाधे हैं। पर पदार्थ प्राप्त होने योग्य नहीं अभिलाषा रहे तो जानना कि अभी "कुछ" रुकावट है कसर है। यह कसर मिटी कि सोचा हुआ पार पड़ गया उद्देश्य सफल हुआ। कसर मिटने पर ही सफलता मिल सकती है।

पर पदार्थ प्राप्त करने की इच्छा ही अधर्म का मूल है। अभी तक पर पदार्थों का मोह है तब ही तो सत्य समझ में नहीं आता है। स्व (आत्मा) में प्रेम हुए बिना, अर्थात् आत्म दृष्टि जागृत हुए बिना सची समझ आ नहीं सकती और सची समझ के बिना सची शांति भी नहीं मिल सकती।

जो, पर पदार्थ न मिलें तो उदास हो, और उन्हें प्राप्त करने के लिये प्रयत्नों में ही लगा रहे, और प्राप्त ... अवश्य ... नहीं है। जिसकी

करने की भावना नहीं है, फिर भी वे प्राप्त हों तो भोग में लगा होने की अपेक्षा उनका सदुपयोग करने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है वह उच्चकोटि का धर्मात्मा है।

पर के संयोग में सुख मानकर, पर को प्राप्त करने, भोगने और रक्षा करने की इच्छा ही अधर्म है।

---

(१८) "इतना तो अवश्य चाहिए"—इस भाव को दूर करो।

दुनिया के पदार्थों के लिए "इतना तो अवश्य चाहिए" यह भावना न रखो। अनीति आदि के बिना जो सुलभ हो उसी में गुजारा करो। उसे भी त्यागने की कोशिश करो परन्तु उसे प्राप्त करने या सम्भालने के लिए अनीति, प्रपंच या पाप का आचरण तो कभी न करो।

आज शरीर का जितना मोह है उतना आत्मा का नहीं है। शरीर की जितनी सम्भाल रखी जाती है उतनी आत्मा की नहीं। शरीर का खबर पूछनेवाले अनेक, परन्तु आत्मा की खबर पूछनेवाले प्राय कोई नहीं। (मिजाज तो खुश है पूछनेवाले बहुत से, मगर आत्मा का क्या हाल है? कोई

नहीं पूछता) यह शरीर का मोह है, आत्मा का प्रेम नहीं है इसीसे सत्य समझमें नहीं आता है। शरीर और आत्मा भिन्न है। आत्मा शाश्वत अमर है, शरीर नोत्ता नाशवान है, अत शरीर और आत्मा का पृथक्करण करो।

पर के प्रेम के बजाय स्व (आत्मा) का प्रेम विकसित हुए बिना, अकुरित हुए बिना सच्ची समझ आ नहीं सकती और टिक भी नहीं सकती। बिना सच्ची समझ के शांति या मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

---

(१६) पुण्य का खुले आम निलाम!

आत्मा जहा तक पर का भान भूल जाय, चाहे जहा नजर फेंक, सदाचार या अनाचार को न देखे, वहा पुण्य किस तरह टिक सकता है? पूर्वभव का बहुत पुण्य लाए होंगे तो मरते दम तक भोग सामग्री ऐश्वर्य मिट नहीं जाएगे, परन्तु बाद म क्या हाल होगा? यह विचारो। यदि "भाग्यशाली है" इस मद में मस्त होकर भाग्य या पुण्य का खुले आम निलाम करेंगे तो लाख के बारह हजार होंगे। पुण्य खतम हो जायगा तब यह भी नहीं रहेगा और लाख की राख हो जाएगी, और मूर्खों म गिनती होगी।

में आयँगे सो अलग। यह पापानुबन्धी पुण्य कहलाता है कि जो पुण्य भोगते हुए नया पाप बंधता है। जब पुण्य मिला है तो उसके उदय के कारण प्राप्त हुई सामग्री का उपयोग केवल भोग में ही न करके शास्त्रकथनानुसार सदुपयोग करो जिससे बंधन हो तो पुण्यानुबन्धी पुण्य का। अर्थात् पुण्य भोगते हुए नया पुण्य बंधे और उस पुण्यका योग निर्जरा की साधना में सहायक बनकर परम्परा से मोक्ष भी दिलावे।

पाप से बचनेवाले की सद्गति होती है या पाप से मुकाबला करने वाले को? पाप से सद्गति मिल हो नहीं सकती। पाप के नाश के लिए श्री वीतराग परमात्मा की आज्ञा का पालन कितना किया? भाव शुद्धि कितनी की? ये और ऐसे प्रयत्न सदा विचारो।

(२०) वैराग्य और उसकी स्थिरता।

पौद्गलिक सुख सामग्री भी पुण्य के उदयवाले को ही मिलती है, इसमें सन्देह नहीं परन्तु पौद्गलिक सुख सच्चा सुख नहीं है, अत पर ये (पौद्गलिक) सुख भी मोक्षाभिलाषी को

चाहिए। जब ये दुःखरूप लगने लगते हैं तो इनमेंसे आनन्द उड़ जाता है।

इस सामग्री के बीच में रहते हुए भी और भोगते हुए भी इसमें लुखापन आता है। ऐसा लगने लगे कि, "मैं पौद्गलिक सुख भोगता तो हूं परन्तु ठीक नहीं करता हूं, इसका परिणाम दुःख ही है।" ऐसा करते हुए वैराग्य बढ़ जाता है और आया हुआ वैराग्य स्थिर भी हो जाता है। अर्थ काम की प्रवृत्तिए अच्छी न लगें और वे प्रवृत्तिए भवपरम्परा को बढ़ाने वाली लगें तो वही वैराग्य है। आत्मस्वरूप का चिन्तन हो तभी सच्चा वैराग्य आता है। शुद्ध समकित के बिना सच्चा वैराग्य आता भी नहीं और सच्चे वैराग्य के बिना त्याग टिकता भी नहीं। सच्चा वैराग्य ही अन्तर की पौद्गलिक वासनाओं का और अहंता--ममता का त्याग कराकर हृदय शुद्धि करता है। बिना हृदय शुद्धि के भाव शुद्धि या समता नहीं आ सकती। समता के बिना मोक्षदायक धर्म, क्रियाएं इच्छित फलदाई नहीं होती।

(२१) धारा हुआ कब पार पड़ सकता है ?

पर की संगति में रहते हुए वह संगति त्यागने योग्य प्रतीत हो और यह मान्यता दृढ़ हो जाय तो धारा हुआ पार पड़ सकता है। ऐसे आत्मा, अर्थ, काम के अभिलाषी नहीं हैं वरन मोक्ष के अभिलाषी हैं। हम अपने जीवन को नियम में (शास्त्र कथित शुद्ध वर्तन में) रखें तो यह सामग्री मोक्ष प्राप्त होने तक टिकती है और उत्तरोत्तर भोगों का त्याग और इन्द्रियां आदि का सदुपयोग क्रमशः मोक्ष तक ले जाती है, अतः अर्थ, कामसे प्राप्त हुई सामग्री का आत्म कल्याण के हेतु ही सदुपयोग करना चाहिए।

—:o:—

(२२) कौनसा पुरुषार्थ आचरने के योग्य है ?

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में पुरुषार्थपन समान होते हुए भी खेद की बात है कि, आत्मा पाप रूप अर्थ, काममें आनन्दपूर्वक और भान रहित लगकर प्रवर्तता है।

मोक्षदायक धर्म की आराधना से मिलता सब कुछ है, परन्तु शास्त्र कहते हैं कि— इन सब कुछ को प्राप्त

करने की भावना में पड़े अथात् ऐहिक और पार लौकिक सुख या भोग की कामना में पड़े तो ऐसे भ्रष्ट होंगे कि पता भी नहीं लगेगा। आत्मिक दुःख के निवारण में सब बाह्य दुःखों का निवारण अपने आप हो जाता है। आत्मिक उन्नति में पर की उन्नति आजाती है, परन्तु पर की उन्नति मे आत्मिक उन्नति नहीं है। अत आत्मिक दुःख के निवारण और आत्मिक उन्नति के लिए जो पुरुषार्थ है वही धर्म है। मोक्ष के हेतु से ही धर्म का सेवन करने वाला सच्चा पुरुषार्थी है। अर्थ, काम, अहता और ममता में (मशगूल) फसा रहने वाला सच्चा पुरुषार्थी नहीं है। सच्चा पुरुषार्थी बनना हो तो अर्थ, काम, अहता और ममता को अनर्थकारी माननेवाले बनो।

अर्थ, काम, अहता और ममता से आत्मा का उद्धार होता है, यह किसी भी दर्शनकार ने नहीं कहा है। अर्थ, काम, अहता और ममता, ये अपने या पराये ? साथ आने वाले या यहीं रहने वाले ? सुखी करते हैं या दुःखी करते हैं ? क्या इनको साथ लाए थे ? क्या इनको साथ ले जाओगे ? उत्तर है नहीं। जो अपना नहीं है, साथ में आया नहीं और आने वाला भी नहीं उसके लिए तमाम शक्ति

गर्व करना यह बुद्धिमत्ता है या बुद्धि हीनता ? सात्विक वृत्ति की इच्छावाले को यह बराबर समझ लेना चाहिए। आज इस युग में अर्थ, काम, अहंता और ममता (मैं और मेरा) तथा विषय भोगके सिवाय अन्य विचारों या आचारों को स्थान नहीं है इसीलिए तो सब कुछ भूले और जो खास आचरने योग्य है वही रह गया। अर्थात् जो करने योग्य है वह करते नहीं हैं।

अर्थ और काम ये आत्मा को उन्नत करने वाले पुरुषार्थ नहीं है वरन् बरबाद करने वाले हैं। अर्थ और काम की लिप्सा से आत्मा उन्नत नहीं होता है वरन् पतित होता है। अर्थ और काम की वासना के कारण तो वर्तमान में दुःख भोग रहे हैं और इसी नियम से भविष्य में भी दुःख होने वाला है तो फिर इस वासना से छुटकारा कब हो ? यह कभी विचारा है ?

सांसारिक पदार्थ प्राप्त करने की इच्छा पापेच्छा है। और प्राप्त होने के बाद तो ये पदार्थ अधिक पाप कराते हैं, यदि मुक्ति की कामना से धर्म का आचरण हो, तो लक्ष्मी भी ऐसी प्राप्त हो कि उसका सदुपयोग हो। पुण्यानुबन्धी पुण्य के उदय से प्राप्त हुई यह लक्ष्मी आत्मा को भान रहित बनाकर भोग में नहीं जोड़ती।

दुनियां में सुखी होना चाहते हो तो भी ऐश्वर्य (लाडी, वाडी, गाडी) के आधीन न बनो। उसके संयोग से खेद तो कहलाओगे परन्तु उसमें वास्तविक सुख तो नहीं है।

अर्थ और काम का पुरुषार्थ पाप का अनुबंध कराकर नरक में ले जाता है जब कि धर्म और मोक्ष का पुरुषार्थ पाप के अनुबंध को रोककर निर्जरा कराता है, अथवा पुण्यानुबंधी पुण्य का अनुबंध कराकर उत्तरोत्तर मोक्षमें ले जाता है, अतः अर्थ और काम की प्रवृत्ति में धर्म नहीं है परन्तु पुण्य के योग से प्राप्त हुआ अर्थ और काम का सदुपयोग ही धर्म है। इससे सिद्ध होता है कि जो पुरुषार्थ परिणामतः दुर्गति में ले जाता है वह पुरुषार्थ ही नहीं है, परन्तु जो पुरुषार्थ मोक्ष के नजदीक ले जाता है वही वास्तविक पुरुषार्थ है। मोक्ष के नजदीक ले जाने की शक्ति तो मात्र एक सद्धर्मरूप पुरुषार्थ में ही है।

परमार्थ दृष्टि से अर्थ और काम लाभदायी तो नहीं है वरन् अनर्थकारी है कारण कि, वे मोक्ष के कारण नहीं है परन्तु संसारके कारण हैं। संसार अनंत दुःखवाला है अतः उसका कारण भी अनर्थकारी गिना जाएगा। बाकी रहे दो पुरुषार्थ धर्म और मोक्ष। इन दो में भी मोक्ष पुरुषार्थ ही

लाभदायी है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए आराधना तो धर्म की ही करनी है अत मोक्षदायक धर्म भी इस दृष्टि से लाभदायी पुरुषार्थ है। धर्म साधन है और मोक्ष साध्य है। कारण और कार्य हैं। कारणके द्वारा कार्य होने वाला है अत कारण यदि शुद्ध रीतिसे किया जाय तो क्रमश कार्य (मोक्ष) साधा जा सकता है। इसीलिए अनन्त मोक्ष सुखको देनेवाला कारण भी लाभदायी गिना जाता है। परन्तु जो धर्म क्रमश मोक्षरूपी अनन्त सुख का कारण बने तो वह धर्म भी लाभ दायी पुरुषार्थ की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता है मोक्षदायक धर्म के सेवन के द्वारा पर वस्तुओं के प्रा करने की अभिलाषा को नष्ट करना चाहिए। अत दृष्टि को अर्थ तथा काम की तरफ न रखकर मोक्षकी तरफ ही रखना चाहिए। अर्थ और काम जो कि अनंत संसार के कारण रूप हैं आत्मा उन्ही में अनादिकाल से लीन है, उसे वीरतापूर्वक उस तरफ से हटाकर मोक्ष के कारण भूत वीतराग भाषित धर्म की आराधना में लगाना चाहिए दुःख मात्र से दूर होने का और अनंत सुख को पाने ये ही एक उपाय है। जैसे पशु भी सच्चा राह को अपनाये हो तो शनै शनै गन्तव्यस्थान को पहुच जाता है वैसे ही भारी कर्मवाला (अत्यन्त पापवाला) आत्मा भी यदि मोक्ष

दायक धर्म पर अग्रसर हो जाय तो क्रमश मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अत मोक्ष को साधनेवाला ही सच्चा पुरुषार्थी है। मोक्ष तथा मोक्ष का कारणभूत धर्म पुरुषार्थ लाभदायी है और अर्थ तथा काम पुरुषार्थ अनर्थकारी है।

—०—

(२३), आज की हवा।

आज दुनिया की हवा ऐसी है कि धर्म वृत्ति को दबने में और पाप वृत्ति को उत्तेजित होने में देर नहीं लगती है, अत पाप से डरने वाले और मोक्षदायक धर्म को आचरने की इच्छावाले आत्मा को प्रतिदिन विचारना चाहिए कि, आत्मा किस तरफ घसीटा जा रहा है धर्म तरफ या पाप तरफ। यदि धर्म क्रियाएं करते हुए भी अर्थ और काम की लालसा को पूरी करने की इच्छा रहती हो तो समझलो कि आत्मा पाप की तरफ घसीटा जा रहा है, और यदि मोक्ष की अभिलाषा उत्तरोत्तर तीव्र होती जाती हो तो समझो कि आत्मा धर्म की तरफ घसीटा जा रहा है। आज अर्थ और काम की तरफ जबरदस्त आकर्षण है और इसी आकर्षण ने अहंता और ममता को बढ़ा दिया है। मैं और मेरा इस भावना ने आज के जीवन को कलहमय बना दिया है।

अर्थ और काम की लालसा हो वहां कलह न हो और सच्ची शांति हो यह नितान्त असम्भव है। आज की हवा अर्थ काम की वासना को उत्तेजित करनेवाली है अतः जीवन में कलह को भी बढ़ाने वाली है।

(२४) परहित (परोपकार) कब हो सकता है?

अर्थ और काम को हेय (छोड़ने योग्य) मानकर उसे प्राप्त करने की इच्छा छोड़े बिना वास्तविक परहित नहीं हो सकता है। अर्थ और काम को प्राप्त करने की लालसा तब तक नहीं मिट सकती जब तक अर्थ और काम को अनर्थकारी और मोक्ष को ही लाभदायी नहीं माना जाता है।

यदि स्व और पर के भेद मय स्वरूप से अनभिज्ञ आत्मा दूसरे का भला करना चाहे तो भी किस तरह कर सकता है? ऐसा आत्मा द्रव्य परोपकार कर सकता है परन्तु भाव परोपकार नहीं कर सकता। वास्तविक परहित तो अन्य की आत्मा को दुःख के कारण से बचाने में है। दिखता हुआ कोई दुःख दूर कर देना यह परोपकार है,

परन्तु ... ा के त्याग की अपेक्षा अति को दुःख के ... के त्याग की) अधिक आव ... र ही समता आती है और ... ा है। यह दशा जब तक प्राप्त ... यी उदारता आ नहीं सकती। ... र-वस्तुएं असार लगने लग जावेंगी ... सदुपयोग हो सकेगा। पर-वस्तुओं ... प्राप्ति का साधन है, परन्तु बिना ... हो नहीं सकता और बिना सदुप ... सकता। सच्ची उदारता पर-वस्तु के ... आत्म कल्याण के लिए बदले की ... ी इच्छा छोड़ने की इच्छा से उसे ...

... ने योग्य विचार।

... मांगने ...

हो जाने के बाद उसे रोके रखना चाहें तो भी नहीं रुक सकेगी। ऐसी नाशवान, पराधीन और भव परंपरा को बढ़ाने वाली वस्तु में लुब्ध होना या उसे भोगने में लवलीन रहना यह आत्मा की बुद्धिमत्ता नहीं है वरन् मोह की प्रमत्तता (पागलपन) है। यह सब आत्मा से पर है फिर भी पर को छोड़कर मात्र स्व (आत्मा) की साधना करने की इच्छा क्यों नहीं होती ? पुण्यक्षय होने पर वह चली जायगी या हमें उसे छोड़कर चला जाना पड़ेगा, उससे पहले या जहां तक पर की पौद्गलिक वस्तु की मूर्च्छा से दूर होने के लिए एवं बदले की आशा बिना केवल आत्म कल्याण की भावना से यदि एक पाई भी किसी को दान करेंगे तो वह उग जावेगी। जिसे लक्ष्मी को तिजोरी में बंद रखना ही अच्छा लगता है वह उदार नहीं है। उदार तो वही है जिसे आत्म कल्याण के लिए देना अच्छा लगता है। वह लक्ष्मी को लेकर नहीं नाचता है मगर देकर नाचता है। उदारता बिना लक्ष्मी का सदुपयोग संभव नहीं है। उदारता तभी आ सकती है जब यह समझ जायें कि लक्ष्मी प्राप्त करने जैसी वस्तु नहीं है। यह दशा तभी आ सकती है जब कि मोक्षदायक धर्म अंतर आत्मा में प्रकटे। हममें उदारता क्यों नहीं आती है ? क्योंकि पर वस्तु की आसक्ति का हमने त्याग नहीं किया है इसीलिए। उदारता

पैदा करने के लिए बाह्य त्यागोपों के त्याग की अपेक्षा आन्तरिक त्याग का (अहंता, ममता के त्याग की) अधिक आवश्यकता है। ममता दूर हो तब ही समता आती है और तब ही धर्मी बना जा सकता है। यह दशा जब तक प्राप्त नहीं होती है तब तक सच्ची उदारता आ नहीं सकती। उदारता आ जाय तभी पर-वस्तुएं असार लगने लग जायेंगी और तब ही लक्ष्मी का सदुपयोग हो सकेगा। पर-वस्तुओं का सदुपयोग ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है, परन्तु बिना उदारता के सदुपयोग हो नहीं सकता और बिना सदुपयोग, मोक्ष मिल नहीं सकता। सच्ची उदारता पर-वस्तु के संग्रह में नहीं है परन्तु आत्म कल्याण के लिए बदले की आशा बिना, पर वस्तु की इच्छा छोड़ने की इच्छा से उसे देने में है।

(२६) दान देते समय करने योग्य विचार।

दान देने की इच्छा वाला उदार आत्मा, मांगने वाले को कहे कि, "तुम लेकर मेरा भला करने वाले हो अतः प्रतिदिन ले जाना, खाना परन्तु पाप न करना जिससे मोक्ष मार्ग के कंटक मिट जाय और मोक्षदायक धर्म करना जिससे

सच्चा मोक्ष सुख प्राप्त हो। तुम हमेशा खाना। किसी का भी भला करने से अपना भला होता है।" इस प्रकार से मांगनेवाले को पाप के फलों का और धर्म के प्रभाव का ज्ञान देते हुए और अपनी आसक्ति (मूर्च्छा) उतारने के लिए सद्भावना से जो दान दिया जाय तो इस दान का असर कैसा होता है? और टुकड़ा फेंकते, तिरस्कार करते, गाली देते हुए कुछ दिया जाय तो असर कैसा होता है? दान यदि ठीक ढंग से दिया जाय तो देने वाले और लेने वाले दोनों का उपकार होता है। देने से कुछ खतम नहीं होता है, वरन् मांगने का तो अवश्य खतम होता है।

देने की भावना होना, यह धर्म का ही प्रताप है। लेने वाला लेकर हमारा भला करने आता है, अतः उपकारी है। लेने की विधि किसी को सीखने की जरूरत नहीं है परन्तु देने की विधि सबको सीखने की जरूरत है।

अनुकम्पा बुद्धि (दया की बुद्धि) तो सर्व प्राणियों के प्रति रखनी ही चाहिए। अनुकम्पा का निषेध कहीं भी नहीं है परन्तु पात्र कुपात्र का विवेक रखना चाहिए। अनुकंपा दान में पात्रापात्र की विचारणा को स्थान नहीं है, परन्तु भक्ति से देना हो तब तो अपात्र या कुपात्र का त्यागकर केवल सुपात्र को ही दिया जाता है। सर्वविरतिधर

(सम्पूर्ण त्यागी), देश विरतिधर (अंशतः त्यागी) और अविरत सम्यग्दृष्टि (श्रद्धावान अत्यागी) क्रमशः उत्तम, मध्यम, और जघन्य पात्र हैं। इनके सिवाय या तो अपात्र हैं या कुपात्र हैं, अपात्र या कुपात्र की भक्ति हो नहीं सकती। दीन हीन की ही अनुकम्पा की जाती है। इनमें गुण नहीं होता है और अनुकम्पा दान में गुण देखा ही नहीं जाता। दीन हीन को, अनुकम्पाशील बनकर अवश्य देना चाहिए। थोड़ा हो तो थोड़ा देना, परन्तु विपरीत इसके दरवाजे बन्द कर देना, गाली देना या तिरस्कार करना ये सब कर्मबंध के कारण हैं। इस प्रकार से सब काल तो भिखारी भी सुधर सकते हैं और उनमें से कोई योग्य हो तो भिखारी मिटकर धर्मी बन सकता है।

— o —

(२७) धर्म प्राप्त करने में अयोग्य कौन ?

दुःखी नरों के सामने हो और उसका दुःख दूर करने की शक्ति हो तो भी अपनी शक्ति को छुपाकर दुःखी की उपेक्षा करे तो वह धर्म पाने योग्य नहीं है। यदि ऐसा

आत्मा धर्म में लगजावे तो टिक नहीं सकता। अर्थ, काम, अहंता और ममता के लिए ही धर्म को साधन बना देनेवाला आत्मा मोक्षदायक धर्म की आराधना करने के योग्य नहीं है। दुखी के प्रति दया, दुखी के दुःख को दूर करने की इच्छा, यह भी मोक्ष मार्ग की ही आराधना है परन्तु द्रव्य दया की अपेक्षा भावदया का हनन न हो यह खासतौर से ध्यान में रखना चाहिए।

(२८) अपकारी या निंदक के प्रति भावना

निंदा से आत्मा मलीन होता है। यदि निंदाही करना होतो अपने दोषों की करनी चाहिए जिससे आत्मा शुद्ध एवम् उन्नत बने। आत्मा का विचार करना, अपने दोषों का निरीक्षण करना, यह सब तो प्रायः मिट ही गया है। आत्म कल्याण की इच्छावाले के सामने यदि कोई उसके दुश्मनकी भी निंदा करें तो उसे कहे कि, "यह मेरा दुश्मन है" ऐसा समझकर तुम उसकी निंदा करते हो परन्तु मैं तो दुश्मनी मिटाना चाहता हूं, अतः कृपाकर उसकी निंदा मेरे

सामने न करो।" जो दुश्मन का भी निंदा सुनना पसंद नहीं करता है वह दूसरे किसी की निंदा कब कर सकता है? चोर को तो लेना वसूल करने का चिन्ता, परन्तु साहूकार को तो देना चुकाने की चिंता रहती है चाहे लेना पड़े या न पड़े। तुम साहूकार बनना चाहते हो या लुटेरे? पुण्य के उदय से प्राप्त हुई सामग्री का सदुपयोग न कर उसे भोगने में ही जो लवलीन रहते हैं परन्तु अधिक और सामग्री को प्राप्त करने के लिए चाहे जैसे पापाचरण में डरते नहीं हैं वे लुटेरे जैसे हैं। अपने पूर्वकाल के पुण्य को ही लूटकर वे बरबाद हो रहे हैं। धर्मात्मा अपने पुण्य को नहीं लूटता है। वह तो इस तरह चलता है कि जिससे निर्जरा (कर्मक्षय) हो और बन सके तो शुभ पुण्यों का संचय हो।

धर्मात्मा क्या करे? वह पराये दोषों को तो देखे नहीं और अपने दोषों को कभी छिपा रहे नहीं। यदि पराये दोष देखने में भी आजावें तो गंभीरता धारण करे। परन्तु आज तो इससे विपरीत हो रहा है। अपने होते हुए दोषों की उपेक्षा और पराए न होते हुए दोषों की निन्दा, यही चारों तरफ चल रहा है। निन्दक हमको आगृत कर आत्म सुधार करने में सहायता करता है। परमार्थ से, तत्व दृष्टि से

विचारा जाय तो अपकारी भी हमें पूर्व भव के पापों को क्षय करने में सहायता करनेवाला है।

---

(२६) भाव शुद्धि या हृदय शुद्धि

भक्ति, मुक्ति का मुख्य साधन है परन्तु भक्ति, भाववाली तो होनी ही चाहिए। केवल भक्ति को न देखो वरन् भाव को भी देखो। करना ही हो तो भाव और भक्ति दोनों शुद्ध होने चाहिए। अच्छी भक्ति भी यदि खराब भाव से की जाती है तो विष रूप हो जाती है।

मुक्ति की इच्छा बिना कोई भक्ति करता ही नहीं, यह मान्यता छोड़ देनी चाहिए। मुक्ति में जिसे विश्वास न हो वह भी भक्ति करता है, ऐसा होता है, हुआ है, और होगा। अत भक्ति के साथ उसके भाव को देखो। दुनियां भी कहती है कि 'भाव वैसी भक्ति।' तुम भक्ति (क्रिया) के भूखे हो कि भाव के? क्रिया (प्रवृत्ति) से हृदय का भाव श्रेष्ठ है। उत्तम क्रिया और पापी मनोवृत्ति यह योग अनर्थकारी है। जैसी भावना वैसा परिणाम अवश्य निकलता है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो।" मन ही मनुष्यों के

बंध और मोक्ष का कारण है । शुद्ध मनवाला आवश्यक
धर्म क्रियाओं की उपेक्षा करनेवाला नहीं होता है । आवश्यक
धर्म क्रियाओं के प्रति असावधान आदमी धर्मी नहीं है
वरन् मन का मैला ही है । यदि मन शुद्ध है तो शुद्ध क्रिया
की उपेक्षा का कारण क्या है ? यों कहो कि मन शुद्धि की
बातें केवल मुंह की बातें हैं । वास्तविक विचार की नहीं ।
भावभगवान को यदि शुद्ध भाव से माना जाय तो वह नर दे
सुखों की अप्राप्ति में उद्विग्न न होने दे एवं प्राप्ति में भी
अरुचि उत्पन्नकर, आत्मसुख में रुचि उत्पन्न कराकर मोक्ष
दिलाता है ऐसी शान्त भावभगवान की है । द्रव्य भगवान में
ऐसी शक्ति नहीं है । भावभगवान में दुनिया के क्लेशों को दुःख
को दूर करने की, अशान्ति को मिटाकर शान्ति दिलाने की
तथा इस लोक और परलोक दोनों को सुधारकर मोक्ष सुख
को प्राप्त कराने की भी शक्ति है । परन्तु यह कब सम्भव है ?
जबकि आत्मसमर्पण भाव प्राप्त करके उन भाव के साथ
तन्मयता पैदा करने में प्रयत्नशील बन एवं आराधना से
रहित न हो जाय । यदि भावभगवान का वास्तविक स्वरूप
न पिछानें, प्रभु की आज्ञा का अपमानकर आराधना से दूर
रहकर इच्छानुसार बर्ताव करें तो किसी भी काल में आपत्ति
मिट नहीं सकती, अशान्ति दूर हो नहीं सकती एवं सद्गति

शांति और स्थिरता प्राप्त हो नहीं सकती। इतना ही नहीं परन्तु इससे भी अधिक नुक्सान तो यह होगा कि यह मनुष्य भव आदि मिली हुई उत्तम सामग्री भी निष्फल सिद्ध हो जावेगी, किंतु वे उल्टे अहित करेंगे। उपयोग करना नहीं आने पर उत्तम सामग्री भी नुक्सान कारक हो जाती है यह स्वाभाविक है। ऐसी उत्तम सामग्री का आज कैसा उपयोग हो रहा है? यदि इसी बात को विवेक से विचारें तो हमें हमारी वर्तमान दशा से आनन्द तो नहीं होगा।

आज हम उपासना करते हैं उसमें भी हमारा हेतु क्या है? प्रभु की आज्ञानुसार उपासना करने की भावना कितनी? प्रभु की आज्ञानुसार यदि उपासना नहीं होती हो तो उसका दुःख कितना? उपासना की विधि का आदर कितना? इनका उत्तर अपने आप से पूछें। एक तरफ तो प्रभु की उपासना, पूजा, भक्ति करें और दूसरी तरफ उनकी ही आज्ञा का उल्लंघन करें तो यह आचरण फलने के बजाय फूटता है। प्रभु ने जो नियम बताए हैं उन्हें मन में रखकर करता जाय तो पूजा या उपासना सफल होती है। यदि विधि के मन से (अनिच्छासे) अपमानकारक ढंग से की जाय तो की हुई भक्ति (उपासना) निष्फल जाती है। यह रीति प्रत्येक को प्रत्येक काम में घटाकर समझ लेना चाहिए।

पूजा की विधि का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए। यदि इन सब बातों का शांत चित्त से विचार किया जाय तो हमारी उपासना जो अविधि से की जाती है वह सच्ची उपासना नहीं है उसके लिए हमें अवश्य दुःख होगा।

आज हम चौबीस घण्टों में कितने घण्टे केवल आत्म सुख के प्राप्त करने में बिताते हैं? आज तो हमारा अधिक से अधिक समय दुनियां संबंधी सुख वैभव, राग रंग व साधनों के प्राप्त करने में निकलता है। इस काम से फुरसत मिले तो धर्म करें यही बात है न? हमने धर्म को अपने जीवन में कितनी मामूली वस्तु बना रखा है, इसका विचार करने की भी फुरसत आज हमें कहां है? ऐसी दशा में कल्याण होने के बदले अकल्याण हो तो आश्चर्य ही क्या है?

अब जब तो हम धर्म अपनी फुरसत के अनुसार करते हैं और उसका भी नियम नहीं है तो ऐसी दशा का क्या [illegible] दुःख होता है? जो जन्मे वे जायेंगे ही। शरीर, [illegible] पौद्गलिक साधन हमारे नहीं हैं। हम रखना [illegible] भी रहनेवाले नहीं हैं। "अपनी इच्छा या [illegible] छोड़कर जाना ही पड़ेगा उनके लिये [illegible] सामग्री का गुमादेना (नष्ट कर देना [illegible]

है ? ऐसा विचार करना चाहिए।

हमारे जीवन में संतोष एवं शरीर त्यागकर अन्यत्र जाने की निर्भयता आत्मा में कैसे रह सकती है ? जबकि पराई वस्तु अपनी मान बैठे हों, उसे छोड़ने में खेद होता हो, इससे जीवन बिगड़ता हुआ हो और उससे भी अधिक तो यह है कि जीवन में किए हुए पाप आत्मों के सामने भयभीत करते खड़े हों ? ऐसी दशा में समाधि, संतोष या निर्भयता कैसे रह सकती है।

हम जो भक्ति या आराधना करते हैं उसमें भी उद्देश्य (हेतु) प्रभु आज्ञा का विचार और प्रभु आज्ञा का तो ध्यान ही नहीं रहता है। ज्ञानी कहते हैं कि शुभ मनोभाव ही धर्म का प्राण है। जड़ बिना का वृक्ष उतना ही अधिक घातक है जितनी ज्यादा उसकी ऊंचाई है। मोक्ष की इच्छा बिना और यह जानते हुए भी कि पौद्गलिक अभिलाषा हानिकारक है फिर भी वैसी अभिलाषा वाली क्रियाएं जड़ रहित वृक्ष के बराबर हैं, क्योंकि वे संसार में भिराने वाली हैं। किसी खास अवसर पर भक्ति की क्रियाएं अशक्य हो तो क्षम्य है परन्तु भाव बिना तो कैसे चलाया जा सकता है। भाव तो भक्तिमय होने ही चाहिए। भावमंगल यह एक ऐसा मंगल है कि जिसके द्वारा इस भव में सुख

शांति और परिणामतः मोक्ष भी मिलता है। ज्ञानी कहते हैं कि- वास्तविक मंगल की अभिलाषा वाले को चाहिए कि वह भावमंगल की आराधना करे और उसकी शरण में जाय।

पूर्व कर्म की पराधीनता के कारण, संयोगों के विपरीत होने से, और आत्मा की निर्बलता से त्यागने योग्य भी यदि नहीं त्यागा जाता है तो यह अशक्य नहीं है। त्याग की भावना हो और यदि नहीं त्यागा जाता है तो पश्चात्ताप होता है फिर भी छोड़ने योग्य नहीं छोड़ा है यह कमी है। परन्तु छोड़ने जैसे को छोड़ने की और आचरने जैसे को आचरने की भावना न हो तो यह कैसे ठीक गिना जा सकता है। यदि आचरण सम्पूर्ण शुद्ध न हो तो भी भावना तो सम्पूर्ण शुद्ध होनी ही चाहिए।

(३०) धर्म का अपमान करने की अपेक्षा, धर्म न करना उत्तम है।

सदनुष्ठान न करके विषानुष्ठान करना क्या बुरा है? इसका उत्तर एकदम सरल है कि

है ? ऐसा विचार करना चाहिए।

हमारे जीवन में संतोष एवं शरीर त्यागकर अन्यत्र जाने की निर्भयता आत्मा में कैसे रह सकती है ? जबकि पराई वस्तु अपनी मान बैठे हों, उसे छोड़ने में खेद होता हो, इससे जीवन बिगड़ता हुआ हो और उससे भी अधिक तो यह है कि जीवन में किए हुए पाप आगों के सामने भयभीत करते खड़े हों ? ऐसी दशा में समाधि, संतोष या निर्भयता कैसे रह सकती है।

हम जो भक्ति या आराधना करते हैं उसमें भी उद्देश्य (हेतु) प्रभु आज्ञा का विधान और प्रभु आज्ञा का तो ध्यान ही नहीं रहता है। ज्ञानी कहते हैं कि शुभ मनोभाव ही धर्म का प्राण है। जड़ बिना का वृक्ष उतना ही अधिक घातक है जितनी ज्यादा उसकी ऊंचाई है। मोक्ष की इच्छा बिना और यह जानते हुए भी कि पौद्गलिक अभिलाषा हानिकारक है फिर भी वैसी अभिलाषा वाली क्रियाएं जड़ रहित वृक्ष के बराबर हैं, क्योंकि वे संसार में फिराने वाली हैं। किसी खास अवसर पर भक्ति की क्रियाएं अशक्य हों तो क्षम्य हैं परन्तु भाव बिना तो कैसे चलाया जा सकता है। भाव तो भक्तिमय होने ही चाहिए। भावमंगल यह एक ऐसा मंगल है कि जिसके द्वारा इस भव में सुख

शांति और परिणामतः मोक्ष भी मिलता है। ज्ञानी कहते हैं कि- वास्तविक मंगल की अभिलाषा वाले को चाहिए कि वह भावमंगल की आराधना करे और उसकी शरण में जाय।

पूर्व कर्म की पराधीनता के कारण, संयोगों के विपरीत होने से, और आत्मा की निर्बलता से त्यागने योग्य भी यदि नहीं त्यागा जाता है तो यह अशक्य नहीं है। त्याग की भावना हो और यदि नहीं त्यागा जाता है तो पश्चात्ताप होता है फिर भी छोड़ने योग्य नहीं छोड़ा है यह खटकता है। परन्तु छोड़ने जैसे को छोड़ने की और आचरने जैसे को आचरने की भावना न हो तो यह कैसे क्षीण गिना जा सकता है। यदि आचरण संपूर्ण शुद्ध न हो तो भी भावना तो सम्पूर्ण शुद्ध होनी ही चाहिए।

(३०) धर्म का अपमान करने की अपेक्षा, धर्म न करना उत्तम है।

सदनुष्ठान न करके विषानुष्ठान करना क्या बुरा है? इसका उत्तर एकदम सरल है कि भूखा रहने की,

है ? ऐसा विचार करना चाहिए।

हमारे जीवन में संतोष एवं शरीर त्यागकर अन्यत्र जाने की निर्भयता आत्मा में कैसे रह सकती है ? जबकि पराई वस्तु अपनी मान बैठे हों, उसे छोड़ने में खेद होता हो, इससे जीवन बिगड़ता हुआ हो और उससे भी अधिक तो यह है कि जीवन में किए हुए पाप आखों के सामने भयभीत करते खड़े हों ? ऐसी दशा में समाधि, संतोष या निर्भयता कैसे रह सकती है।

हम जो भक्ति या आराधना करते हैं उसमें भी उद्देश्य (हेतु) प्रभु आज्ञा का विधान और प्रभु आज्ञा का तो ध्यान ही नहीं रहता है । ज्ञानी कहते हैं कि शुभ मनोभाव ही धर्म का प्राण है । जड़ बिना का वृक्ष उतना ही अधिक घातक है जितनी ज्यादा उसकी ऊंचाई है । मोक्ष की इच्छा बिना और यह जानते हुए भी कि पौद्गलिक अभिलाषा हानिकारक है फिर भी वैसी अभिलाषा वाली क्रियाएं जड़ रहित वृक्ष के बराबर है, क्योंकि वे संसार में फिराने वाली हैं । किसी खास अवसर पर भक्ति की क्रियाएं अशक्य हों तो क्षम्य है परन्तु भाव बिना तो कैसे चलाया जा सकता है । भाव तो भक्ति मय होने ही चाहिए । भावमंगल यह एक ऐसा मगल है कि जिसके द्वारा इस भव में सुख

शांति और परिणामत मोक्ष भी मिलता है । ज्ञानी कहते हैं कि- वास्तविक मंगल की अभिलाषा वाले को चाहिए कि वह भावमंगल की आराधना करे और उसकी शरण में जाय।

पूर्व कर्म की पराधीनता के कारण, संयोगों के विपरीत होने से, और आत्मा की निर्बलता से त्यागने योग्य भी यदि नहीं त्यागा जाता है तो यह अशक्य नहीं है । त्याग की भावना हो और यदि नहीं त्यागा जाता है तो पश्चात्ताप होता है फिर भी छोड़ने योग्य नहीं छोड़ा है यह शल्य है। परन्तु छोड़ने जैसे को छोड़ने की और आचरने जैसे का आचरने की भावना न हो तो यह कैसे ठीक गिना जा सकता है। यदि आचरण सम्पूर्ण शुद्ध न हो तो भी भावना तो सम्पूर्ण शुद्ध होनी ही चाहिए।

(२०) धर्म का अपमान करने की अपेक्षा, धर्म न करना उत्तम है।

सदनुष्ठान न करके विषानुष्ठान करना क्या बुरा है ? इसका उत्तर एकदम सरल है कि बुरा

अपेक्षा जहरीली मिठाई खाना क्या बुरा है ?

धर्म नहीं करनेवाले ने तो इतना ही किया कि धर्म नहीं किया परन्तु उसने धर्म का अपमान तो नहीं किया। जबकि विपरीत भावना से धर्म करने वाले ने तो धर्म का अपमान किया है ऐसा माना जाता है यदि इच्छा फिरी तो क्रिया भी निष्फल गई और हानिकारक भी हुई। यदि शुद्ध भाव प्राप्त करने का भाव गया तो भक्ति भी नष्ट। खोखे की कीमत है या प्राणों की ? क्रिया की कीमत है या भाव की ? किसी अवसर पर क्रिया बिना निभाया जा सकता है लेकिन भाव बिना कैसे चल सकता है ? अतः धर्म करते हुए यह खासतौर से ध्यान में रखना चाहिए कि कहीं विराधना (अपमान) न हो जाय। इसका तात्पर्य यह नहीं कि अपमान के भय से धर्म ही नहीं करना, धर्म का त्याग करना ? त्याग धर्म का नहीं करना है वरन अशातना (अपमान) का करना है। धर्म क्रियाएं नहीं छोड़ना है वरन् उनमें खराब भाव नाए हों, सांसारिक अभिलाषाएं हों, पौद्गलिक आशा-साए हों उनको छोड़ना है। धर्म करते हुए यह भी बराबर देखते रहना चाहिए कि हमसे अविधि आदि के कारण से कहीं धर्मकी हीनता तो नहीं हो रही है ? यदि हुई मालूम हो तो पश्चात्ताप करना चाहिए और

होती हो तो सावधानी रखकर धर्म अवश्य करते रहना चाहिये।

---

(३१) मान

मान की भूख डुबाती है और मान की निःस्पृहता तारती है। मानकी भूख (अभिलाषा) जागती है तब आत्मा पामर बन जाता है। परिणाम यह हो जाता है कि वह कहने योग्य कह नहीं सकता है, सुनने योग्य सुन नहीं सकता है, और आचरने योग्य आचर भी नहीं सकता है। स्वयं पूजित होने की अभिलाषा से का जाने वाली एवं मोक्षके लिए उपदिष्ट क्रियाएं भी विषानुष्ठान ही हैं।

(३२) पाप

क्या पाप के प्रयोग होते हैं? हानिकारक वस्तुओं के सेवन द्वारा या अन्य को सेवन कराने द्वारा अनुभव नहीं किए जाते हैं। पाप के फल अनगिनत हैं, वह भोगना ही

पड़ेगा। यह मानकर जल्दी समझ लेना एवम् समझकर जीवन में उतारना यह उत्तम श्रेणी का कर्तव्य है। भूखे प्राणी दया के पात्र हैं किन्तु वे अल्प श्रेणी के दया के पात्र हैं, कारण कि वे तो पाप का फल भोग ही रहे हैं जबकि हम तो जान बूझकर पाप करके पाप का परिणाम भोगने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं अतः हम तो उनसे भी अधिक दया के पात्र हैं।

दुःख हमारी भूल से आया कि दूसरों की भूल से ? स्वतः सिद्ध है कि हमारी भूल से। यदि हमने पाप नहीं किया होता तो दुःख आता ही नहीं, फिर भी पाप का डर क्यों नहीं लगता है ? क्या आपको जितना डर है उतना पाप का है ? पापी की अभिलाषा कभी सम्पूर्ण हुई नहीं और धर्मात्मा को कभी दुःख पड़ा नहीं।

पाप की सजा में से बचने की इच्छा वाले को सजा के कारणों से बचने की लगन होनी चाहिए। विपरीत इसके पापाचरण में उमंग बना जाय, उसमें आनन्द आवे, इसमें बड़प्पन मालूम हो और इसीमें सुख है ऐसा माना जाय तो "पाप बुरा" ऐसी दृढ़ श्रद्धा कहां रही। "पाप बुरा है" यह कहते हुए भी पाप न छूटे यह जितना भयङ्कर है इससे भी अधिक भयङ्कर तो यह है कि "पाप बुरा" लगे ही नहीं।

पाप का प्रेम घटने के बदले पाप का भय घटे यह उन्नति या अवनति ? पाप के भय से तो जीवन बदल जाता है और सजा के भय से तो पाप छुपाने की युक्ति ढूंढी जाती है।

पाप का भय न हो तो हृदय में धर्म किस तरह प्रवेश करे ? पाप बढ़ा तभी तो धर्म घटा । पाप के भय बिना धर्म रुचि कैसे प्रकट हो ? यदि पाप का भय लगता हो तो आनन्द की वस्तु है विपरीत इसके केवल सजा का डर लगता है और सजा के कारण भूत पाप का डर न लगता हो तो खेद की वस्तु है । हम जिस जिसके सम्पर्क में आवें उन्हें साफ कहें कि, "हम पापी हैं, स्वार्थी हैं, अत हमसे सावधान रहना । समय आने पर हम हमारा स्वार्थ सिद्ध करेंगे" तुम्हारे हित की परवाह नहीं करेंगे ।" यदि पाप का फल, "दुःख" नहीं चाहते हो तो पाप से डरना और बचना चाहिए । इसी प्रकार यदि मोक्षदायक धर्म का फल रूपी सुख चाहते हो तो मोक्षदायक धर्म का आदर कर उसे पालना चाहिए। दुःख में भगवान याद आते हैं परन्तु जरा सा सुख मिलने पर उन्हें भूल जाते हैं और पापाचरण करते हैं। जरा सोचो, हम सेठ की आज्ञा भङ्ग करते डरते हैं कि भगवान की ? यदि इस प्रकार से विचारें तो मालूम पड़ेगा कि हृदय में पाप का डर है कि नहीं ?

पाप से डरने वाले को तो पाप बंध करने की बात से खेद न होकर आनन्द आना चाहिए। पाप छोड़ा नहीं जाता है इसका दुःख होना चाहिए। इसीलिए तो स्वच्छन्दता का त्याग और संयम का स्वीकार करना अशक्य एवं दुष्कर भी लगता है।

पाप किस तरह से होता है ? पर के मोह से, ममत्व से। पाप नहीं करने से नहीं मरते हैं, परन्तु पाप करने से ही मरते हैं। पूर्वकर्म की पराधीनता से, संयोगों की प्रतिकूलता से, फस जाने से या आत्मा की निर्बलता से यदि पाप करना भी पड़े तो वह भी बहुत ही कम। अर्थात् बने जहाँ तक पाप का त्याग करें और जो परवशता से होता है वह कांपते हृदय से हो। यह कब हो सकता है ? भोग और ऐश्वर्य के पदार्थों की आवश्यकता मजबूरी हालत में रहे और वह भी कम से कम और उन्हें भी छोड़ने की मन में इच्छा बनी रहे तब।

पाप को माननेवाला जिस रीति से जीता है, उस रीति से पाप नहीं माननेवाला जिया नहीं, जियेगा भी नहीं और न जीता ही है। मयल अल्प होते हुए भी हजारों की आय हो वह वस्तु अलग है और इस प्रकार

प्राप्त होने पर उसका सदुपयोग ही होता है परन्तु पाप से डरनेवाली आत्मा को तो पाप करने की इच्छा भी नहीं होनी चाहिए। पाप के उदय से बचनेकी भावना होती है परन्तु पाप से बचने की भावना नहीं होती है। सम्यग्दृष्टि, पापानुबन्धी पुण्य के उदय से डरता है परन्तु पाप के उदय से नहीं डरता। कारण कि उस पुण्य के उदय से भोग सामग्री मिलती है और उसे आनन्द पूर्वक भोगते हुए तीव्र पाप बंधता है परिणामतः पतन होता है। जबकि पाप के उदय से भोग नहीं मिलता है और इसीलिए विवेक से संयमधर्म का पालन होता है जिससे आए हुए कष्ट समतापूर्वक सहन होते हैं और पाप का नाश होता है अतः सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को पापानुबन्धी पुण्य का उदय भी अच्छा नहीं लगता है।

ज्ञानी पाप को पहचानता है, जानता है परन्तु आचरता नहीं है, कारण कि, पाप को जानता है वह पंडित है परन्तु जो आचरता है वह तो पापी है। दुनिया के दोषों को जो जानता है वहां तक तो वह ज्ञानी है परन्तु आचरता है तब तो वह पापी है। दोषादोष का जानकार होना आवश्यक है क्यों कि यदि दोष अदोष जाने हुए हों तभी हेय (छोड़न

योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) का विवेक हो सकता है।

(३३) दुःख और उसका कारण।

दुःख का कारण पाप है एवम् सुख का कारण पुण्य है। दुःखी होने की तैयारी करने वाला वह है जो पाप करे, अनीति करे, दूसरों की हानि करे। यदि कंचन कामिनी की इच्छा, मान, बड़ाई और ईर्षा न होती तो दुनिया में पाप न होता और पाप न होने से जेल, अदालत, कानून आदि भी क्षीण क्षीण होगये होते।

हमें हमारे काम ही योग्य, अयोग्य स्थानों में ले जाने वाले है अतः दुःख से डरने की अपेक्षा पाप से डरना चाहिए। दुःख से घबरानेवाले दो तरह के होते है —

(१) पहले तो दुःख का कारण पाप है ऐसा समझते नहीं और दुःख को टालने के लिए दुःख के कारण भूत पाप का आदर कर उसे आचरते है।

(२) दूसरे दुःख का कारण पूर्व के पाप कर्म हैं ऐसा समझते हैं और इस कारण आप हुए दुःख को सम-

तापूर्वक सहन करते हैं और दुःख का कारण पाप है ऐसा समझकर पाप से डरते हैं और उससे बचते हैं एवं मोक्षदायक धर्म का आदर कर उसको पालते हैं।

"दुःख किसी को अच्छा नहीं लगता है', यह सर्व मान्य है इसमें किसी का मतभेद नहीं है परन्तु दुःख के दूर करने के उपायों में मतभेद है। दुःख से डरने के बजाय पाप से डरना चाहिए। पाप के आदर के बजाय मोक्षदायक धर्म का आदरकर आत्मसुख प्राप्त करने की कोशिश करना चाहिए। मन मना करता हो तो भी धर्माचरण बंद नहीं करना चाहिए कारण कि, उत्तम क्रियाओं का शुद्ध ध्येय से आचरण वाला अभ्यास भी मन को वश में करने वाला है। व्यवहार में भी मन नहीं मानता है ऐसे अनेक काम हम प्रतिदिन करते हैं। मोह के वशीभूत होकर किए जाते काम हम अनिच्छा से भी करते ही हैं तो, फिर मोक्षदायक कार्य मन के मना करते हुए भी, बिना इच्छा से शुद्ध ध्येय से करने में क्या हानि है?

(३४) आक्रमण किस पर करना चाहिए ?

राग द्वेष, अज्ञान (या मोह) ये तीन ही असत्य बोलने के कारण हैं। इन तीनों का सर्वथा नाश होने पर ही केवल ज्ञान होता है और पश्चात् कभी भी असत्य नहीं बोला जाता है।

वैराग्य आदि आत्मगुणों पर आक्रमण उपयुक्त नहीं है। आक्रमण तो पापी वृत्तियों पर, जिन्होंने दुनिया का ह्रास किया है उन पर करना चाहिए। आक्रमण तो रागादि पर शोभा देता है।

—:o:—

(३५) उपसर्ग कब सहन हो ?

महापुरुषों के सिर पर क्या कम आपत्तियें आई हैं? उन्होंने क्या कम उपसर्ग सहन किए हैं? फिर भी वे स्थिर रह सके यह किसका प्रताप? प्रभु की आज्ञा हृदय में थी जिसका।

उनका जैसा मान सम्मान, ऋद्धि सिद्धि और विद्वत्ता

वे ही पचा सकते थे। आनंदार से प्रमादवश भूल हो सकती है परन्तु उसे सुधारने में उसे देर नहीं लगती है।

(३६) विषय

समस्त पापों का मूल इन्द्रियों के वशवर्ती रसना इन्द्रिय है। दुनियां में ऐसा कौनसा पाप है जो इन्द्रियों के वशीभूत हुआ (गुलाम) आत्मा न करता हो। इन्द्रियों के सदुपयोग से तरा जाता है और दुरुपयोग से डूबा जाता है। [illegible]

विषयों की तरफ दौड़ने का इन्द्रियों का स्वभाव है। तमाम इच्छित विषय मिलता है तो राजी होते हैं और अनिच्छित विषय मिलता है तो दुःखी होते हैं [illegible] है। [illegible] उसे वह और अनिष्ट (इच्छित और अनिच्छित) दोनों में [illegible] वाले के भाव ही तरने का उपाय है। [illegible] सदुपयोग से तर गये हैं और दुरुपयोग से डूब गये [illegible] की बातें तो इन्द्रियों के सदुपयोग [illegible] हुआ [illegible] माया से वाले विषय आत्मा को [illegible] करते [illegible]। ऐसी [illegible] में जितना प्रयत्न [illegible]

है उतना प्रयत्नशील यदि मोक्ष के लिए बना जाय तो फिर बाकी क्या रह जाय ?

नर तनुकर फल विषय न भाई,
स्वर्ग स्वल्प अंतहु दुःख दाई।
नर तनु पाई विषय मन देही,
पलटो सुधा ते शठ विष लेही ॥

(३७) इन्द्रिय निग्रह

आदर्श कौन ? त्याग या राग ? राग को नष्ट करने वाले त्याग को आदर्श रखें तो उछलती हुई विषय की काम नाएं और तृष्णाएं स्वयमेव नष्ट हो जाय । इसके बिना सच्चा इन्द्रिय निग्रह साधा जा सके यह असम्भव है।

(३८) मृत्यु

जिसको अनन्त बार मरने का डर हो, मोक्ष की प्रबल इच्छा हो उसका मन संसार में लगता है कि प्रभुस्मरण में ?

भवों के भय से धर्म का पालन करोगे तो इस लोक और परलोक में मोक्ष के अनुकूल सामग्री और स्थिति प्राप्तकर आधि-व्याधि के और झंझट से बचकर उत्तम प्रकार की आत्म शांति का अनुभव करके शाश्वत स्थान को पाओगे। भवों का भय, मनुष्य जीवन की सार्थकता का उपाय एवम् मोक्ष की चाह है।

'मरना है' यह तो सभी कहते हैं, परन्तु यह बराबर स्मरण में रहने लग जाय एवं यहां से मरकर कहीं जाना है तथा यहां की करणी का (कर्मों का) फल जरूर मिलेगा यह भी याद रहने लग जाय तो मन चाही रीति से अनुपयुक्त ढंग से रहना बंद हो जाय। क्या कभी ऐसा विचार किया है कि मृत्यु से पहले आत्मा उन्नतगामी हो और परलोक सुधरे? यदि ऐसा विचारा जाय तो तमाम स्वच्छन्द वृत्तियां बंद हो जाय एवं दुनिया उसे ज्ञानी समझकर सांसारिक बातें करे तो वह चौंक जाय। उसे वह जहर जैसी लगे। यदि वह किसी ज्ञानी कहलाने वाले के पास ज्ञान के लिए जाय एवं वहां संसार पोषण की बातें होती हों तो कहदे कि, 'पर पदार्थों की ममता से माया से छूटने के लिए मैं यहां आता हूं रहाने के लिए नहीं,। ऐसी

बातें मिलावे या कहे यह ज्ञानी व साधु नहीं है।" मृत्यु तो सब के सिर पर मंडरा रही है तो फिर उसके लिये तैयार किस तरह होना चाहिए? साफ उत्तर है कि समता का अभ्यास कर मोक्षसाधक प्रवृत्तियों का आचरण कर तैयार होना चाहिए। मोक्षसाधक प्रवृत्तियें ये हैं क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दशविधि धर्मों का उत्तम श्रद्धापूर्वक पालन।

जब लक्ष्मी आदि पर वस्तुओं को छोड़कर पहले या पीछे जल्दी या देर से जाना ही है तो फिर रोते २ जाने के बजाय हंसते २ जाने की आदत डालो। यदि ऐसी आदत डाली होगी तो मरते समय खेद नहीं होगा एवम् जीव नाशवन्त पर वस्तुओं में नहीं घूमेगा।

मृत्यु का कष्ट अत्यन्त वास्तविक कष्ट है। बिना उत्तम भवितव्यता के परमात्मा का नाम याद नहीं आता है। उत्तम भवितव्यतावाले को ही उस समय भगवान आदि की शरण स्वीकार ने की भावना होती है।

जो आत्मा विचार कर आत्महित की वृत्तियों में संलग्न रहेंगे वे इस पर हित साधकर उत्सव समान मृत्यु पाकर क्रमशः मोक्ष सुख प्राप्त करेंगे।

(३६) नीति

नीति, धर्म का व्यावहारिक स्वरूप है और इसमें भी कुछ अंशों में कुछ मनुष्य जीवन की सार्थकता है । नीति का अर्थ है हृदय की पवित्र वृत्ति से, सरल वृत्ति से, कार्य करने की रीति । शुद्ध वाणी, विचार व आचार की समन्वयता यह सच्ची नीति की अंतिम श्रेणी है । नीति में दृढ़ रहने के लिए भव का भय या पाप का भय आवश्यक है । नीति से यह लोक और परलोक सुधरते हैं इसीलिए किसी अवसर पर सर्वस्व भी जाता हो तो भी नीति नहीं छोड़नी चाहिए यह विशेषतया ध्यान में रखना चाहिए । सांसारिक वस्तुओं के लिये या आडम्बर के लिए पाली हुई नीति, नीति नहीं है । परलोक के भय से एवं मोक्ष की आकांक्षा से यदि नीति का पालन होता हो तभी माना जा सकता है कि, धर्म का रहस्य हृदय में उतरा है । इस बात को तत्त्वज्ञानी अच्छी तरह जानते हैं कि, नीति के मार्ग पर चलते हुए भी जब तक अशुभ का उदय बाकी हो तब तक सुख मिलता ही नहीं है और शुभ का उदय वर्तमान में चलता हो तो

आपत्ति के संयोग भी सुख ही देने वाले होते हैं। इसी से तो पापी को बाह्यदृष्टि से सुखी देखकर एवम् धर्मी को दुःखी देखकर तत्वज्ञानी महात्मा खेद नहीं करते हैं। तीव्र अशुभ के उदय होने पर अत्यन्त असह्नीय कष्ट कारक संयोग भी उपस्थित हो सकते हैं। ऐसे संयोगों में भी कई महापुरुष सन्मार्ग में टिक सके हैं यह प्रताप इस आत्मा एवम् धर्म की सच्ची समझ का भी है।

यदि आत्म शांति ही सच्चा सुख मालूम होता है तो, "*नीति का तात्कालिक फल नहीं मिलता है, यह वास्तव में* ठीक नहीं है", ऐसा प्रतीत हुए बिना नहीं रह सकता। आत्मा को आत्मघात के मार्ग से हटाकर आत्महित के मार्ग पर लगाना चाहिए। यही सच्ची दया या आत्मदया है। बाकी की दया तो द्रव्य दया है। आत्मदया ही धर्म रूप नीति है। धर्मात्मा व्यापारी का भी अन्तिम ध्येय तो आत्मदया या भाव दया ही बन जाना चाहिए। व्यवहारिक नीति में भी दया की एवम् दया में भी भाव दया की विशेषतः आवश्यकता है।

(४०) अनीति

शरीर का नाश करने वाला जहर जितना बुरा लगता

है क्या उतना बुरा आत्मा को नाश करनेवाला अनीति पालन लगता है ? यदि नहीं तो क्या जहर तो त्यागने योग्य है एवम् अनीति नहीं त्यागने योग्य है ? ऐसा ही है न ?

दुनिया जहर और अनीति को बुरा कहती है परन्तु जहर से जितना सावधान रहती है क्या अनीति से उतना सावधान रहती है ? यदि नहीं तो अनीति कहने मात्र के लिए बुरी और मानने के लिए अच्छी, यही बात हुई न । इस प्रकार की दशा वाले को विचारना चाहिए कि, मोक्ष दायक धर्म अपनी आत्मा की उन्नति के लिए करना चाहिए कि लोग हमें धर्मात्मा कहे इसके लिए करना चाहिए । "अनीति तो जहर से भी बुरा है" यह होठ से बोला जाता है कि हृदय से ? यदि अनीति जहर से बुरी है यह हृदयमें उतर जाय तो अनीति करनेका प्राय मन ही न हो और यदि कभी अनीति हो भी जाय तो हृदय दुःखी हो । अत अनीति को हृदय से बुरी माननेवाले, एवं मानकर उसे त्यागने में प्रयत्न करने वाले व उसे त्यागनेवाले और जब तक वह न त्यागी जाय तो हृदयमें भयभीत रहनेवाले और प्रायश्चित्त करनेवाले बनो । पर तु ऐसे कितने ? विरले ।

हजारों मनुष्य अनीति करते हुए भी पूर्व के पाप के उदय के कारण सांसारिक सुख सामग्री के बिना ही भटकते

हैं, इस तरफ तो नजर नहीं जाती है लेकिन पूर्व के पुण्य के उदय से अनीतिवान यदि थोड़ा भी कमाता है, उसकी तरफ दृष्टि जाती है इससे धारण हो जाती है कि, अनीति करनेवाले को तुरन्त फायदा होता है । अर्थात् धर्मात्मा दुखी और पापी सुखी ? ऐसी अज्ञानमय कल्पना बंध जाती है, परन्तु परिणामतः अनीति तो हाथ में बेड़ी ही पहनावेगी, अज्ञानी जीवों को यह समझ में नहीं आता है । अनीति करने से यह निश्चित होते हुए भी कि धन व इज्जत पर धट्टा लगता है, व परलोक में भयङ्कर दुःख होता है इस बात पर चाहिए जितना दृढ विश्वास नहीं होता है इसी से तो अनीति के फल को अच्छा माना जाता है और अनीति बिना जीवन चल नहीं सकता है, ऐसा कहा जाता है । ऐसे लोग अनीति को लोक लज्जा से चाहे बुरी कहें, परन्तु हृदयसे बुरी मानते नहीं है। अनीतिको वे बुरी कहते, वह केवल होठ से ही, हृदय से नहीं ।

अनीति करनेवालों को वस्तुतः शांति होती ही नहीं, जब कि इसके विपरीत शुद्ध नीति का आचरण करने वालों को चाहे जैसे विपत्ति के अवसर पर भी अशान्ति का अनुभव नहीं होता है, हम जो अनीति कर रहे हैं यदि वह वास्तव में उनके नगे स्वरूप में प्रकाशित हो जाय तो

हमारे लिए जेल-कारागार निश्चित हो। क्या आज यह प्रकाशित नहीं होती है इसीसे उसका कुफल क्या समय में नहीं मिलेगा? राज्य की शक्तिको जीतने वाले ऐसे हैं लेकिन धर्म की सहायता बिना कर्म की शक्ति को जीतने वाले नहीं देखे। नीच मनुष्य तो पाप का फल भोग ही रहे हैं जबकि हम उच्च कहलानेवाले अनीति के द्वारा पापका फल भोगने की तैयारी करते हुए नीच बनने की तैयारी कर रहे हैं।

संसार को दुष्ट अच्छे नहीं लगते हैं, लेकिन दुष्टता अच्छी लगती है, कारण कि दुष्ट तो हम से छीन लेते हैं जबकि दुष्टता से तो दूसरे को छीना जासकता है, ठगा जा सकता है। दुष्ट के त्याग की बात में तो उसका तिरस्कार है जब कि दुष्टता के त्याग से तो स्वय का ही तिरस्कार होता है अर्थात् दुष्ट भी कहने लग जायें कि संसार में दुष्ट नहीं रहने चाहिए। जिनको दुष्ट तो पसन्द न हो लेकिन दुष्टता पसन्द हो उनको कैसा गिनना चाहिए? ऐसा करते हुए हृदय कांपना चाहिए। भूल से भी कभी किसी को ठगने की इच्छा नहीं होना चाहिए। क्या कभी यह भी अनुभव हुआ कि कम लेवें तो हमारा जाता है और इसी निमित्त से इतना परिग्रह घटा, परन्तु यदि अधिक लेते हैं तो आत्मा का अहित होता है? परन्तु सच्ची बात तो यह

है कि अनीति और दुष्टता से आत्मा का अहित होता है यह माने बिना यह विचार आवे ही क्यों ?

(४१) सच्चे हितैषी

यदि आप अपने बालकों के सच्चे हितैषी बनना चाहते हो, तो अभी जो व्यवहार उन्हें पालपोष कर बड़े करने का बना रखा है उसे छोड़िये। सदा हृदय में यह भावना बनी रहनी चाहिए कि हमारा कुछ भी हो, लेकिन हमारे यहां जन्मा हुआ बच्चा आत्महित साधे। सांसारिक सुख की भावना मिटकर बालक के सच्चे हित की भावना जागृत हो तभी माता पिता होने का वास्तविक कर्त्तव्य पूरा किया जा सकता है।

होठ से तो कर्त्तव्य की बातें करें, लेकिन हृदय में स्वार्थ रहे तो कल्याण किस तरह हो सकता है ? हम बालकों के शरीर की परवाह करते हैं कि, आत्मा की भी ? बालकों को अपने स्वार्थ के लिए पोषते हैं कि, उनके कल्याण के लिए ? इसी प्रकार हमें यह भी विचारना चाहिए कि

हमारे कुटुम्बियों एवं आश्रितों के प्रति हमारा कर्त्तव्य क्या है ?

उनका आत्म कल्याण करने में सहायक बनना, यह हमारा उत्तमोत्तम कर्त्तव्य है, परन्तु उनके लिए द्रव्य-उपार्जन कर उनको सौंपना आत्म घातक भी बन सकता है, क्योंकि हृदय में यदि मनुष्य जीवन की सच्ची सार्थकता साधने की बात न जची हो तो धन का सदुपयोग करने की अपेक्षा दुरुपयोग करनेका भय अधिक सम्भव है। इस कारण से जो बंध, बंधता है वह अशुभ ही बंधता है आर कि आत्म घातक ही होता है। हमारे और उनके लिए सच्चा आश्रय तो एकमात्र धर्म का ही हो सकता है। अत सबके कल्याण केलिये श्रद्धा भी मोक्षदायक धर्ममें ही होनी चाहिये।

धर्म शक्ति के आश्रित रहने वालों को कर्मशक्ति या राज्यशक्ति से दुःखी नहीं होना पड़ता है। कर्म और राज्य शक्तियों के बन्धन से छुड़ाने वाली भी एक मात्र मोक्ष दायक धर्म शक्ति ही है। द्रव्य का संग्रह देने वाले का ध्येय तो दुःख में से छुड़ाने का और सुख पहुंचाने का होता है, परन्तु द्रव्यदान भी मोक्षदायक धर्मशक्ति के आधीन है जोकि कर्मशक्ति के बन्धन से छुड़ाने का,

मात्र उपाय है। अत बालकों को मोक्षदायक धर्मशक्ति के आश्रित बनाना तो विशेष आवश्यक है। मोक्षदायक धर्मशक्ति का आश्रय नहीं स्वीकार रहे हैं इसीलिये ता कर्म शक्ति द्वारा पीडित हो रहे हैं और आगे भी होंगे। हितैषी का विशिष्ट कर्त्तव्य तो मोक्ष के ध्येय का निश्चय कराकर मोक्षदायक धर्म के आश्रित बनाकर उसका पालन करना सिखाकर आत्म गुणों के प्रगट करने में है उन्हें यदि मोक्षदायक धर्म का आश्रित बना दिया जाय तो सबसे श्रेष्ठ परन्तु मोहाधीन हितैषी माता-पिता यदि ऐसा न कर सके तो भी सन्तान को अपनी सम्पत्ति सौंपते हुए भावना उत्तम रख उन्हें शिक्षा दें कि —

" देख ! मैं तुझे अपने पुण्य से प्राप्त यह सम्पत्ति सौंपता तो हूँ, परन्तु प्रभु आज्ञा के विपरीत और परलोक बिगाड़ने के मार्ग में इसे खर्च न करना, अनीति मत करना, विषयासक्त मत बनना, लुब्ध एव आरम्भ-समारम्भ में लुप्त न होना। यदि इससे अधिक द्रव्य को पाने की अभिलाषा को तू न रोक सके तो भी नीति मत छोड़ना, कदाचित् पापके उदय से द्रव्य चला जाय तो नीतिका उल्लघन करके तेरी आत्मा का हनन न करना। स केवल तू इस द्रव्य का न्याय

पूर्वक सदुपयोग करना जिससे तू इस लोक में और पर लोक में सुख पावेगा। क्या कभी आपने अपने पुत्र को सम्पत्ति सौंपते हुए ऐसा कहा है?

— ० —

(४२) ❀ दंभ या आडम्बर ❀

हमारे में जो गुण न हो उसका दिखावा करना आडम्बर या दम्भ है। दम्भ से आत्मा उन्नति नहीं करती है कारण कि दाम्भिक क्रिया से आत्मा विशुद्ध नहीं होती है। दम्भ बिना शुद्ध हृदय से श्रद्धा पूर्वक और शुभेच्छा से की हुई प्रभु की आज्ञा की अनुसरती हुई क्रिया ही आत्मा का कल्याण करती है। हम सदा पापका विचार तो करते हो परन्तु यदि पाप को छोड़ने का बिल्कुल प्रयत्न नहीं करें एवं पाप की परवाह भी न करते हों तो यह भी एक प्रकार का दम्भ ही है। यह दम्भ भी जब तक दूर न हो जावे तब तक चरित्र (वैराग्य) आता ही नहीं और टिकता भी नहीं है। वस्तुतः शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना, दम्भ सर्वथा नाश सम्भव नहीं है। व्यवहार में किया जाने वाला दम्भ धर्म तक आ जाता है, प्रायः होता है, तब धर्म भा

मनुष्य उसका विश्वास नहीं करता है। दम्भ रहित चाहे जैसा गरीब मनुष्य भी मोक्षदायक धर्म के अनुकूल नीति के अर्थात् आत्मदया युक्त नीति के पालन से सम्मान प्राप्त करता है।

* कामादि मद दम्भ न जाके।
तात निरत मैं वश ताके। *

(४३) ❀ स्वार्थी मित्रों से सावधान रहो ❀

"घर मरो या कन्या, ब्राह्मण की दक्षिणा तैयार या पेट भराया कि पाटण भराया" इस उक्ति के अनुसार जिसे अन्य के नाश की चिन्ता न हो, ऐसे स्वार्थी मित्र ही हां जी हां करते रहते हैं। अत जिसे आत्म कल्याण करने की इच्छा हो उसे ऐसे मित्रों से दूर रहने की विशेष आवश्यकता है। मोक्ष के हेतु से त्याग के लिये प्रयत्नशील बने हुए मनुष्यों को तो यह विशेषत लक्ष में रखना चाहिये।

एक राजा को उसके सब सेवक कहते रहते थे कि "आप विजयी हैं। परन्तु राजा ने ऐसे मित्र तैयार किये जो उन्हें हमेशा याद कराते रहते कि आप विश्व विजयी तो हैं,

परन्तु विषयों ने आपको जीत लिया है अतः आपके सिर पर भय बढ़ता जा रहा है, अतः हे राजन् विषय सेवन में रत रह कर आप अपने आत्मा को हनन मत करो, मत करो" (भरत राजा जो श्रीऋषभदेव के पुत्र थे उन्होंने ऐसे गुरु स्थापित किए जो सदा पाठ करते थे — जितोभवान वर्द्धते भयम्। माहन माहन॥ वे पंडित गुरु, ब्राह्मण या महात्मा इस तरह राजा को संसार के भय से जागृत करते रहते थे) आचार दशाङ्ग द्वितीय प्रकाश पृष्ठ २३) इन मित्रों के सम्पर्क से उस राजा ने उत्तरोत्तर आत्मोन्नति की। अंत में वह राजा केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गामी हुआ। जो कटु कहे लेकिन आत्महित कारक हो, वह मित्र, जो मिष्ट बोले लेकिन आत्मघातक हो वह शत्रु। ऐसा जब समझ में आवेगा तब ही आत्मघातक हाँ जी हाँ कहने वाले मित्रों से बचा जा सकेगा। हर बात में हाँ में हाँ मिलाने वाले अच्छे नहीं होते।

(४४) उपयोग करने का तरीका

मनुष्य में यदि उपयोग करने का तरीका है तो जन साधारण वस्तु से भी हानि के बदले लाभ उठा सकता है।

कितनी ही क्रियाएं दिखने में तो निर्दयतापूर्ण प्रतीत होती हैं परन्तु हेतु और परिणाम का विचार करने से दया पूर्ण मालूम होती है।

धन धान्य आदि परिग्रह, इन्द्रियें, मन तथा यौवन के सदुपयोग में ही आत्मकल्याण निहित है। अर्थ और काम हैं तो डुबाने वाले, परन्तु उनकी लुब्धता से मुक्त होने के हेतु से उनका सदुपयोग तारने वाला बन जाता है। अर्थात् उत्तम सामग्री और उसकी परंपरा, मोक्ष प्राप्त करा देते हैं।

(४५) शांति

"बोए जैसा काटे और करे वैसा भरे।" यदि शान्ति की चाहना हो तो शान्ति रूप बनो। ईर्षा, तृष्णा और असन्तोष से जीते हुए भी अशान्ति और मरते हुए भी अशान्ति, अतः तृष्णा के प्रभाव को रोकने की, उसकी दिशा बदलने की और जीवन को मर्यादित बनाने की खास जरूरत है। जब स्वयं में शान्ति आजाएं तो दूसरे जीवों में हमारे निमित्त से हुई अशान्ति स्वयमेव रुकने लग जायगी। यदि सच्चा सुख या शान्ति चाहते हो, तो पाप मात्र से पीछे हटो, पाप की निन्दा करो और उसे दूर करो और सद्धर्म का

आचरण करो उसके बिना इस लोक या पर लोक दोनों में से एक भी जगह शांति नहीं मिल सकती।

(४६) धर्म से जय और पाप से क्षय

मोक्ष दायक धर्म में जब मनुष्य को दृढ़ विश्वास होजाता है तब वह हो सके जहा तक मोक्षदायक धर्म को छोड़ता नहीं है, पाप भी नहीं करता है। वह धीर और गम्भीर बनकर पूर्वभवों के अशुभ के उदय से आते हुए दु खों को और उपसर्गों को भी अपने हितैषी मित्र बनाने का प्रयत्न करता है। वह आनेवाली सभी छोटी बड़ी आपत्तियों को समभावसे सहन करता है और आत्म स्वभाव को प्रकट करने के लिये अनन्त ज्ञानी आत्माओं द्वारा कहे गए उपायों को आचरने में मस्त रहता है। इससे उस पुण्यात्मा की आपत्तिए क्षीण होती जाती हैं। क्रमशः वह जन्म मरण के चक्कर में से मुक्त बन, शाश्वत सुख प्राप्त करता है। दुःख से डर कर पाप में मस्त बनने वाले की दशा इससे विपरीत होती है।

(४७) धर्म-शक्ति

धर्म शक्ति का काम सबको तारने का है न कि, दंड देने का। राज्यशक्ति और कर्मशक्ति से दुखी होनेवालों को शरण देना और शरण में आए हुओं को प्रगति के शिखर पर पहुचा देना कि, जहा कोई शक्ति ही नहीं है केवल

स्वतन्त्रता है। यह धर्म शक्ति का काम है। जहां उपाधि झंझट का नाम निशान नहीं और सुख सम्पन्नता (आज़ादी) का पार नहीं। जहां ऐसी सम्पन्नता है कि जिसका अन्त ही नहीं, वही सच्ची आज़ादी है, मुक्ति है। धर्मशक्ति का काम राज्यशक्ति और कर्मशक्ति के बन्धन में से छुड़ाकर सच्ची आज़ादी रूप मोक्ष प्राप्त करा देना है। यदि धर्मशक्ति की अवज्ञा कीजाय, उसकी हंसी कीजाय, तो वह स्वयं उसका कुछ भी नहीं करता है। वह तो जो तरना चाहता है उसे तारता है परन्तु ऐसे तारक का अपमान करनेवाले का बुरा हाल होना निश्चित है। यदि धर्मशक्ति को दबाने वाला कोई है तो वह पापशक्ति ही है। यदि इस धर्मशक्ति की ही परवाह नहीं है तो कर्मशक्ति निर्भय होकर आक्रमण करेगी। धर्म की अवज्ञा के समान दूसरा कोई पाप नहीं है। संसार समुद्र से तारनेवाली धर्मशक्ति का विरोध करने वाले उत्कट दुर्भाग्य प्राप्त करते हैं। इस काल में एक दृष्टि से तो स्वदेश सेवा के नाम से परन्तु अन्य दृष्टि से वे सर्व आत्माओं के कल्याण की हानि करने वाले होते हैं उस हानि का निवारण करने के लिए परमात्मा के नाम भी है। धर्म द्रोहियों के अधिकार में उसके स्वरूप का ज्ञान और अन्य आत्माओं के कल्याण का मार्ग भी नष्ट होते होता है। इसलिये धर्मद्रोहियों के

प्रति अत्यन्त द्वेष नहीं होता है। यदि धर्मद्रोही को दण्ड देने से ही अनेकों का कल्याण कार्य रक्षित रहता हो और दण्ड देना सम्भव हो तो धर्मात्मा उसे दण्ड दे परन्तु दण्ड देते वक्त भी धर्मात्मा का हृदय दया से और परोपकार की भावना से परिपूर्ण हो। धर्मद्रोही के भी भले की भावना हो।

मोक्षदायक धर्म का पालना अत्यन्त कठिन है। मुह से तो धर्म-धर्म तमाम दुनिया कहती है परन्तु उसके मर्म को तो कोई विरला ही समझता है। धर्मशक्ति के विषय में अज्ञानी लोग चाहे जैसा कहें, कारण कि वे विचारे उसकी महिमा को नहीं समझते हैं। ये जो समझते हों और कहते हों इनसे दूसरों का नुक्सान न होजाय इसको रोकने के लिये धर्मी आत्मा यथे जहांतक प्रयत्न करता है। अज्ञानी दुनिया डरती है राज्य शक्ति से। राज्य शक्ति के भय से पाप नहीं करती है लेकिन धर्म शक्ति को समझकर पाप को छोडती नहीं है। धर्म शक्ति को नहीं समझने वाला जगत धर्म शक्ति से लडने में निरंकुश हो जाता है यह प्रमाणित वस्तु है।

धर्म शक्ति की शरण में अपने आपको समर्पित करने वाले मनुष्य को कोई चिन्ता नहीं रहती है।

मोक्षदायक धर्म करने वाले की अन्य सब चिन्ताएं धर्म करता है। धर्म आया तो सब आया समझना चाहिए। हम मोक्षदायक धर्मशक्ति को स्वीकार नहीं करते हैं इसीलिए तो राज्यशक्ति और धर्मशक्ति से दुःखित होरहे हैं और होवेंगे।

धर्मः—(१) परभाव का त्याग और आत्मभाव का स्वीकार और उसमें स्थिरता।

(२) स्वयं को जो प्रतिकूल लगता हो वह दूसरों के लिये नहीं करना।

(३) मैं किसी का विरोध नहीं करूंगा और यदि कोई मेरा विरोध करेगा तो मैं उसके जैसा नहीं बनूंगा।

यह सब ही बन सकता है, जब कि समता हो। यहां पर भौतिक या धार्मिक समता का ग्रहण नहीं करना है। आत्मा के अतिरिक्त समस्त पौद्गलिक पदार्थों के प्रति ममता का त्याग, यही सच्ची समता को प्राप्त करने का उपाय है।

---

(४८) राज्यशक्ति

दुनिया को ज्ञानी नजर से देखा जाय तो राज्यशक्ति

का जोर बहुत चलता नजर आता है। धर्मशक्ति से दूसरी दृष्टि से जैसे बचा जा सकता है वैसे राज्यशक्ति से नहीं बचा जा सकता है। इतना होते हुए भी मानलो कि कोई अपराध पकड़ा गया, परन्तु राज्यशक्ति चाहे जितने कसूर अपराध का दण्ड अधिक से अधिक क्या दे सकती है? राज्यशक्ति के पास भारी से भारी दण्ड यदि कोई है तो वह मृत्यु दण्ड ही है।

मन के अपराध दण्डन की शक्ति तो [illegible] के पास नहीं है और वचन एवं शरीर के [illegible] भी कितने ही अपराधी पकड़े नहीं जाते [illegible] अपराधों की सजा है ही नहीं? और [illegible] है [illegible] शक्ति की? स्वयं विचार कर देखो कि [illegible] मनसा वचन से या काया से कितने [illegible] भुगत चुके हैं? इसका उत्तर [illegible] मिलेगा। तो क्या उन अपराधों से [illegible] इसका कोई दण्ड है ही नहीं, [illegible]?

—卐—

(९६) धर्मशक्ति

धर्मशक्ति ही सब [illegible]

[illegible]

आज्ञा का पालन अवश्य होना ही चाहिए। यदि सारे संसार का बादशाह भी यह कहदे कि, " मैं तुझे नहीं मानता हूँ।" तो कर्मशक्ति कहती है, "मुझे मान या न मान परन्तु मेरी शक्ति के शासन से तू बच नहीं सकता है। मेरी सज़ा में से तू बच नहीं सकता है। म राजी रह वहीं तक आनन्द की बहार, परन्तु मैं रूठा नहीं कि मामला खतम"। यह है कर्मशक्ति। धर्मशक्ति के शासन में गया हुवा कर्मशक्ति से बच सकता है परन्तु बड़ी से बड़ी राज्यशक्ति का स्वामी भी कर्मशक्ति से बच नहीं सकता है। मनके अपराध पकड़ने की ताकत सांसारिक शासन में नहीं है, तथा वचन एवं शरीर से अपराध करने पर भी कितने ही अपराधी पकड़े ही नहीं जाते। ऐसे अपराधी चाहे राज्यशक्ति से बच जाते हों परन्तु कर्मशक्ति उनको इस भव या परभव में सज़ा दिये बिना छोड़ेगी नहीं। राज्य शक्ति ज़्यादा से ज़्यादा एक बार मौत देती है जब कि कर्म सत्ता तो अनंत बार मौत की सज़ा देती है। आप कर्म शक्ति या पर भव को नहीं मानते हो तो भी वह कहने में इनकार न करेंगे कि, "मेरे से तू चाहे बच गया लेकिन तेरे पाप तुझे नहीं छोड़ेंगे या धर्म से जय और पाप से क्षय।" बात यह है कि ये शब्द जो हम दूसरों के लिए कहते हैं या मानते हैं वह स्वयं

के लिए भी हमें मानने लग जाना चाहिए। अन्य के लिए ऐसा कहने में तो उसके अहित की भावना रही हुई है अतः त्याज्य है, परन्तु स्वयं के लिये तो यह वस्तु बराबर समझ लेना चाहिए। प्रत्येक को यह ध्यान में रखना चाहिए कि, मेरा मानसिक, वाचिक या कायिक कोई भी छोटा या बड़ा पाप मुझे किसी भी काल में छोड़ने वाला नहीं है। यह पाप या तो भोगने से या निर्जरा (पाप से दूर होने की तपस्या विधि) से दूर होगा। कर्म शक्ति का साम्राज्य इतना विशाल है कि, मोक्ष को पाये हुए सिद्धात्माओं की अवस्था ही हमारा लक्ष्य बन जाना चाहिए, यही एक ऐसी अवस्था है कि जहां कर्मों का जोर नहीं है राज्य नहीं है और इसी से वहां सच्ची और परिपूर्ण स्वतन्त्रता है।

(५०) दोषी के प्रति व्यवहार-बर्ताव

दूसरों में न होते हुए दोष तो हम देखते हैं जब कि हमारे में रहे हुए दोष भी हम नहीं देख सकते हैं। यदि हम हमारे दोषों को निभा सकते हों तो दूसरों के दोषों को भी निभा सकने की उदारता प्राप्त करनी चाहिए ताकि

मनुष्य मात्र भूल का पात्र है। दोष न हों ऐसे तो विरले ही होते हैं। दूसरों का सुधारने की इच्छा वाले हम, यदि स्वयं ही सुधर जावें तो हमारी आत्म शुद्धि का अवसर अन्य योग्य जीवों पर हुए बिना न रहेगा। यदि पात्रता के अभाव से हमारी आत्म शुद्धि का असर दूसरों पर न भी हो तो इस से हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है कारण कि हमारी आत्म शुद्धि तो हमारा कल्याण करने वाली ही है। हमें दोषियों की तरफ दयालु बन कर जैसे बने वैसे उनके भी दोषों को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि वे दोष गहरे आंमट, अति हीन कक्षा में पहुंच गए हों तब ही उनकी उपेक्षा की जा सकती है। जो स्वयं को निर्दोष बनाने के सच्चे मार्ग पर नहीं आया वह ऐसी दया या उपेक्षा कर सके यह असम्भव है। ऐसे लोग निंदक बने हैं दोषियों की तरफ द्वेष बुद्धि धारण करते हैं यही स्वभाव है। प्रेम शक्ति के साम्राज्य में दोष असम्भव नहीं वरन सुलभ वस्तु है। दोष का द्वेष और दोषी का द्वेष यह अलग २ वस्तु है। दोष का द्वेष और दोषी की दया सीख जावें तो निंदा आदि अनेक पापों से बच सकते हैं बाद में यदि दोषी को दण्ड देंगे तो वह दण्ड उस श्रेणी का होगा जैसा कि माता पिता अपने प्यारे पुत्र को सुधारने के

लिए देते हैं। दूसरे के अपराध का ढोल बजाकर अपनी महत्ता प्रकाशित करने की अधमता ऐसे पुरुष में नहीं होती। आज तो अपनी दाम्भिक महत्ता को टिकाने के लिए भी दूसरों के दोष गाए जाते हैं। यह धर्म-बुद्धि नहीं वरन् पाप बुद्धि है।

(५१) प्रशस्तपन (शुभभावपन) कब आसकता है?

अप्रशस्त का त्याग और प्रशस्त का स्वीकार करने वाले को वीतरागपन के हेतु से प्रशस्त वृत्ति करनी चाहिए, कारण कि वीतरागता रूप ध्येय के अभाव से और विपरीत ध्येय के सद्भाव से प्रशस्त भाव उड़ जाता है और अप्रशस्त भाव ही मुख्य बन जाता है, इतना ही नहीं वरन प्रशस्त प्रवृत्ति में से अप्रशस्त प्रवृत्ति में आते देर नहीं लगती है। अत अप्रशस्त वृत्ति का सर्वथा त्याग तो वीतरागता के ध्येय वाले के लिए ही सम्भव है।

(५२) धर्म भावना

संसार असार लगने के पश्चात्

भावना जागे तो भी वह ऐसी होनी चाहिए कि, "मैं मन्द भाग्य हूँ कि जिससे पौद्गलिक, दैहिक, सुखों की अनुकूलता के बिना मैं धर्म की आराधना बराबर नहीं कर सकता हूँ अतः मुझे ऐसी अनुकूलताएँ प्राप्त हों कि जिन से मोक्ष की साधना मैं बराबर कर सकूँ। जहाँ तक मोक्ष न मिले वहाँ तक मुझे इस मोक्ष साधक धर्म के योग से ऐसी सामग्री मिलती रहे कि जिससे मेरी मोक्षमार्ग की आराधना किसी भाव में नहीं चूके, जन्म जन्मांतर तक मुझे मोक्ष साधक धर्म प्राप्त हो।" यह इच्छा दोषमय नहीं है, परन्तु इस लोक और परलोक के भोग भोगने की इच्छा से ही धर्म करना उचित नहीं है। जैसे संसार बुरा है वैसे ही संसार के लिये किया जाने वाला धर्म भी बुरा है। इसमें दो अपराध हुए। पहला संसार की वासना, यह अपराध या पाप है ही और मोक्षदायक धर्म को पाप का साधक बनाया यह दूसरा अपराध! इस भयंकर अपराध से वही बच सकता है कि जिस के हृदय में अर्थ काम हेय (छोड़ने के योग्य) और मोक्षदायक धर्म ही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) बराबर जचा हो।

(५३) मन को वश में करने के उपाय

मन को वश में करने के लिए, आहार, विहार और निहार की शुद्धि की आवश्यकता है। आहार शुद्ध सात्त्विक, और विकार न उत्पन्न करे, ऐसा होना चाहिए। मनमें विकार उत्पन्न करें ऐसे स्थानों का त्याग करना चाहिए और नाटक सिनेमा देखने के विचारों को छोड़ देना चाहिए। साधु पुरुषों का सम्पर्क या सात्त्विक वाचन रखना चाहिए। मन खाली हुआ कि तुरन्त ही इष्ट मन्त्र का जाप शुरू कर देना चाहिए। आमद के अनुसार खर्च रखना चाहिए और आमद में से कुछ धन सन्मार्ग में अर्थात् देव द्रव्य में, सद्गुरुओं एवं स्वामी भाइयों की भक्ति में, पशु पक्षी और निराश्रितों को अनुकम्पा दान देने में, शक्ति के अनुसार लगाना चाहिए। अभक्ष्य, अपेय, और रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिए। यथाशक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। उपवास आदि तप सुबह शाम प्रतिक्रमण (पापों से पीछे हटना) और सामायिक (समता का व्रत) भगवान की पूजा करनी चाहिए और उनकी वाणी सद्गुरु के मुख से सुननी चाहिए।

विचार चित्त में सहज ही आते हैं परन्तु
तो कष्ट साध्य है। शुद्धि की सिद्धि ही सिद्ध है।

चित्तको वशमें करने के लिए विवेक की अत्यत आवश्यकता है। जगत को देखते हुए विकल्प उत्पन्न होते हैं उनमें से विवेक बुद्धि से सार असार ढूंढकर सकल्प बल पैदा करने की आवश्यकता है, उससे प्रशस्त (शुभ) ज्ञान पाकर मनको सुपरिणाम में लेजाया जा सकता है। जगत को जैसा है वैसा जानना और जगत की असारता, क्षणभगुरता को जानने से मन वश में होता है, । "समस्त ससार को स्वप्न समान मानें तो वैराग्य भाव प्रगट होता है, वैराग्य ही मनको वशमें करने का मुख्य साधन है। इससे विवेक प्रगट होता है और ध्यान में स्थिर हुआ जाता है। मन को वश में करने के लिए प्रतिदिन एक घन्टे तक मौन रहने की विशेष आवश्यकता है, जिससे मन वश में आ सके साथही साथ मुमुक्षुजीव को पर द्रव्य की तृष्णा छोड़ना चाहिए और आत्मस्मरण करना चाहिए तब ही मन वश में हो सकता है।

(५८) तप के भेद

तप के दो भेद हैं। बाह्य तप व अभ्यतर तप। इन दोनों के छ छ भेद हैं।

(१) बाह्य तपके ६ भेद—अनशन, उणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रस त्याग, कायक्लेश, अंगोपांग संकोचन।

(२) अभ्यंतर तप के ६ भेद—प्रायश्चित, विनय वैयावृत्य स्वाध्याय ध्यान, उत्सर्ग सहन।

बाह्यतप साधन है जब कि अभ्यंतर तप साध्य है।

अनशन—अन्न का त्याग यह उपवास है। रूखा घी, खांड आदि रहित एक समय का भोजन, आयंबिल है। रस व स्निग्धता सहित एक समय का भोजन एकासना है। उपवास, आयंबिल एकासना करना यह अनशन कहलाता है। गर्म कर ठंडा किया हुवा जल पीना आवश्यक है जब कि उपवास में इच्छा हो तो वैसा जल पिए न हो तो न भी पिए।

उणोदरी—जितनी भूख हो उससे ४ ५ ग्रास अथवा एक या आधी रोटी आदि कम खाना।

वृत्तिसंक्षेप—मन चाहे बने हुए सुलभ खाद्यपदार्थों में से १-२ का त्याग।

रस त्याग—घी, गुड़, शक्कर, तेल, दूध, दही और तली हुई तैयार वस्तुएं इनका त्याग।

काय क्लेश-शरीर को कष्ट देना, बालों का लोच (उखड़ना) जमीन पर शयन आदि करके शरीर को आराम से दूर रखना।

अङ्गोपाङ्ग संकोचन-हाथ पैर उंगली आदि को कम फैलाना, कम से कम स्थान में सोना बैठना।

ये छः तरह के बाह्य तप उत्तरोत्तर कठिन हैं इनको समझ कर तप में आगे बढ़ते रहना चाहिए।

अभ्यंतर अर्थात् आंतरिक तप के भेद इस तरह से हैं।

पश्चात्ताप-अपने से होगए दोषों को ढूंढकर याद कर उनका पश्चात्ताप करना।

विनय—भगवान की पूजा भक्ति एव गुरु आदि की सेवा करना।

वैयावृत्य-बीमार, नामसाधु साध्वी आदि की सेवा उपचार

स्वाध्याय-आत्मा का स्वरूप जानने के लिए सत् शास्त्रों का अध्ययन।

ध्यान—मनको स्थिर करने के लिए धर्म, शुक्ल ध्यान करना।

उपसर्ग सहन—शरीर को कोई चाहे जैसा कष्ट दे उसको सहन करना तथा चित्त को धर्म शुक्ल ध्यान से दूर नहीं करना, आत्मा व परमात्मा का चिन्तन करते हुए कष्ट सहना। ये छ अभ्यन्तर तप हैं। ध्यान के लिए विशेष कहा है कि 'मनको स्थिर करने के लिए ध्यान की आवश्यकता है। विवेकरूपी विचार के अंकुश द्वारा भगवान का जाप करने की आवश्यकता है उसके लिए स्थिर मन, शुद्ध हवा, एव शान्त एकान्त स्थल की आवश्यकता है। पद्मासन से बैठ कर ध्यान धरना, दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थिर रखकर वीतराग भगवान का ध्यान धरना चाहिए। उस समय चाहे जो हो चाहे कैसे भी कष्ट आवें तो भी आत्मा और शरीर को अलग अलग समझकर एव आत्मा का शरीर के कष्टों स कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसा निश्चय कर उन कष्टों को सहन करना और ध्यान का निश्चल रखना चाहिए।

इस प्रकार के तपों में स हम तो केवल अाजकल उपवास को ही महत्व देते ह। अन्य तप भी आवश्यक है। उपवास क पहले व बाद म भिन्न भिन्न स्वाद लेना या विविध स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों का प्रयोग करना ठीक नहीं है। दूसरे दिन (पारने के दिन) दूध, गुड़की राबड़ी, मूंग का पानी

आदि तरल, प्रवाही पदार्थ गरम गरम लेने चाहिए कि जिस से व धा हुवा मल निकल जाय और शरीर स्वस्थ होजाय। लम्बी तपस्या या कई उपवास एक साथ करने पर २ ३ ४ दिन तक केवल रसदार प्रवाही वस्तुए ही लेनी चाहिए या नियमित अल्प मात्र दो समय का भोजन करना चाहिए। (बियासना करना चाहिए।) प्रासुक गर्म शुद्ध जल पीना चाहिए। जिससे तबीयत न बिगडे और उणोदरी, वृत्ति सक्षेप, रस त्याग आदि तप भी हो जावें। तप अर्थात् इच्छा का निरोध जिससे शरीर और मनपर अधिकार (काबू) लाया जा सकता है।

तप करें रख समता चित्तमें,
अटकें त्याग वैराग्य में तो भूलें निज भार।

